न एकादश अंग ज्ञान रहा। यह समय वीर-निर्वाण 683 तक का होता है। श्रुत-अवस्थिति के विषय में यह मौलिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य 'आगम' दिगम्बर परम्परा के आधारभूत शास्त्र नहीं बनते। उस परम्परा में जो आधारभूत शास्त्र हैं, उनका विवरण संक्षेप में यह है कि वीर-निर्वाण 683 के पश्चात् पूर्व-ज्ञान व अंग-ज्ञान को आंशिक रूप से धारण करने वाले कुछ आचार्य हुए। उनमें से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने द्वितीय पूर्व अग्राय-णीय के आंशिक आधार पर 'षट्खण्डागम' की रचना की। आचार्य गुणधर ने पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के आंशिक आधार पर 'कषाय पाहुड' की रचना की। आचार्य भूतबलि ने 'महाबंध' का प्रणयन किया।

आचार्य वीरसेन ने आगे चलकर इन ग्रन्थों पर धवला और जयधवला टीकाएं लिखी। उक्त ग्रन्थ व टीकाएं दिगम्बर परम्परा में आगमवत् मान्य हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के समय-सार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार व नियमसार और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार, लब्धिसार व द्रव्यसंग्रह आदि भी आगमवत् मान्य हैं।

आगम ज्ञान के अस्तित्व-प्रश्न पर दोनों परम्पराओं में भले ही मौलिक मतभेद रहा है, पर दोनों परम्पराओं के आधारभूत ग्रन्थों में जो चिन्तन प्रस्तुत हुआ है, वह जैन दर्शन व जैन संस्कृति को द्विरूप या विरूप करने वाला नहीं। जैन दर्शन के तात्त्विक व दार्श-निक रूप को प्रस्तुत करने वाला तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ व उसके रचयिता उमास्वाति (दिगम्बर मान्यता में उमास्वामी) दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य हैं। दोनों पक्षों के लिए यह एक गौरव बनी है। अन्य भी आधारभूत मान्यताएं दोनों परम्पराओं की समान हैं। भेद-मूलक तो स्त्री-मुक्ति, केवली-आहार, अचेलकता, भगवान् महावीर का पाणिग्रहण, काल द्रव्य का रूप आदि कुछ ही मान्यताएं हैं। समग्र दर्शन को तोलने पर इनका वजन बहुत ही कम रह जाता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है, दोनों साम्प्रदायिक धाराओं का इतिवृत्त कुछ भी रहा हो, दोनों के अभिन्न-दर्शन ने किसी भी धारा को न्यून नहीं होने दिया है।

प्रास्ताविक

"जैनागम दिग्दर्शन" पुस्तक मैंने पढ़ी। जैनागम के विषय में परिचय देने वाले कई ग्रन्थ हैं किन्तु संक्षेप में आगमों के विषय में जानना हो तो यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक डा० मुनि श्री नगराजजी ने इसमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य 45 आगमों का परिचय उनकी टीकाओं के उल्लेख के साथ करा दिया है। आगम के विषय में सामान्य जिज्ञासा की पूर्ति यह ग्रन्थ अच्छी तरह से कर देगा, ऐसा मेरा विश्वास है। अतएव लेखक को धन्यवाद देना और पाठकों की ओर से आभार मानना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।

लेखक ने जैनागमों की उत्पत्ति और संकलन की चर्चा सर्वप्रथम की है और तदनन्तर कौन शास्त्र सम्यक् और कौन मिथ्या इस ओर जो अनेकान्त-दृष्टि से वाचक का ध्यान आकर्षित किया है, वह ध्यान देने योग्य बात है। नन्दीसूत्र में यह विचारणा हुई है किन्तु इस ओर हमारा ध्यान विशेष जाता नहीं। अतएव इस विषय की चर्चा जो लेखक ने प्रारम्भ में की है उसके लिये पाठक उनका ऋणी रहेगा। प्रायः आगम का परिचय देने वाले इस बात को सम्यक् प्रकार से कहते नहीं। अतएव लेखक ने इस ओर पाठक का ध्यान दिलाया है वह उनकी उदार दृष्टि का परिणाम है।

जैनागमों की रचना किसने और कब की ? यह एक समस्या है। और जब तक एक-एक आगम का विशिष्ट अध्ययन नहीं होगा तब तक यह समस्या बनी रहेगी। विदेशी विद्वानों ने इस समस्या का समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया है और उसमें सफल भी हुए हैं। उनके विचार में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृतांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), उत्तराध्ययन और दशवैकालिक (सम्भवतः) ये चार आगम सभी आगमों से प्राचीन हैं। वस्तुतः देखा जाए तो जैनों के ये चार वेद हैं। आगमों को वेद की संज्ञा भी दी गई है, वह इसलिए कि ब्राह्मणों के वेदों का सर्वोपरि महत्त्व था। तदनुरूप ज्ञान-विज्ञान का

जब सम्प्रदाय का रूप ले लेता है तब सब विषयों की व्यवस्था अपनी-अपनी दृष्टि से करनी अनिवार्य हो जाती है, इसी बात का संकेत है।

आगमों में उपांग आदि अन्य जो ग्रन्थ हैं उन्हें तो परम्परा में भी स्थविर-कृत ही माना जाता है। अतएव ये सभी सर्वज्ञ प्रणीत हैं यह मानना जरूरी नहीं है। ऐसा मानने से ही आगमों में जहां भी परस्पर विरोध दिखाई देता है उनका भी समाधान आसान हो जाता है। एककर्तृक में विसंवाद प्राय नहीं होता, किन्तु अनेक कर्तृक अनेक-कालिक ग्रन्थों में विसंवाद सम्भव हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतएव आगमों का अभ्यास करके यह निर्णय करना जरूरी है कि कौनसी मौलिक बात भगवान् ने कही है और कौनसी बात बाद में आचार्यों ने जोड़ी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमों का परिचय-मात्र है और वह सामान्य जिज्ञासु के लिए ठीक ही है। किन्तु डा॰ मुनि श्री नगराजजी से हमारी अपेक्षा तो यह है कि वे अपना सामर्थ्य इस ओर लगाकर यह बतावें कि आगम में कौन-कौन से ग्रन्थ का क्या-क्या भाग हो सकता है और विचारों तथा मन्तव्यों का नवीनीकरण आगमों में किस प्रकार हुआ है? अगली पुस्तक ऐसे विशिष्ट अध्ययन के साथ वे हमें दें ऐसी विनती करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। जब आगम-परिचय देना उन्होंने प्रारम्भ ही किया है तब उनके सामर्थ्य को देखकर हमारी ऐसी अपेक्षा हो, यह स्वाभाविक है। यह कार्य उनके लिए असम्भव नहीं है जबकि वे आगम और त्रिपिटक के निष्णात रूप से हमारे आदर के पात्र हैं।

पुस्तक की छपाई अच्छी है किन्तु प्राकृत उद्धरण कुछ अशुद्ध छपे हैं उन्हें दूसरे संस्करण में शुद्ध करके छापा जाना जरूरी है। इस ग्रन्थ में कुछ स्थल विचार्य हैं, जैसे—पृ॰ 33 में नन्दीसूत्र को देवर्धि की रचना कहा है, किन्तु पृ॰ 151 में उसे देव वाचक की रचना मानी है। पृ॰ 49, सूत्रकृतांग का अन्य नाम सूयाकृत न होकर सूयगड है। पृ॰ 19, पं॰ 14 में 'उपयोग' शब्द के स्थान पर वर्णोपलब्धि होना चाहिए। प्रारम्भ में ग्रंथों का जो परिचय दिया है वह यदि

विषयानुक्रम

संक्षिप्त है जबकि अंग-बाह्यों के परिचय में अधिक सामग्री दी गई है, इससे पुस्तक में परिचय की एक रूपता नहीं रही। लेखक का ध्यान इन बातों की ओर दिलाने से ग्रन्थ का मूल्य कम नहीं होता केवल दूसरे संस्करण में इस पर लेखक विचार कर सके इसके लिए ही यहाँ उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया है। यथार्थ बात तो यह है कि लेखक ने इस पुस्तक को लिखकर सामान्य जिज्ञासु को आगमों के विषय में अच्छा परिचय दिया है और उसके लिए लेखक का वाचक-वर्ग आभारी रहेगा ही।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान ने अपने अस्तित्व के थोड़े से ही समय में विद्या-वितरण के क्षेत्र में अपना स्थान उचित रूप में जमाया है और उसे उत्तरोत्तर सफलता मिले यह शुभेच्छा है। राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान की प्रगति हो रही है उसमें उसके कर्मठ उत्साही सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता और उनके सहकारी महोपाध्याय पं० श्री विनयसागर जी का उत्साह मुख्य कारण है, विद्यारसिक विद्वद्वर्ग उनके आभारी रहेंगे।

अहमदाबाद
दिनांक 24-4-80

दलसुखभाई मालवणिया

विषयानुक्रम

आगम विचार

धर्म-देशना

तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा मे धर्म-देशना देते हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य होता है, विविध भाषा-भाषी श्रोतृगण अपनी-अपनी भाषा मे उसे समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में वे भाषात्मक पुद्गल श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाते हैं। जैन-वाङ्मय में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं। समवायांग सूत्र में जहाँ तीर्थंकर के चौतीस अतिशयो का वर्णन है, वहाँ उनके भाषातिशय के सम्बन्ध में कहा गया है : "तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा भाष्यमाण अर्द्ध-मागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप प्रभृति जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषाओं मे परिणत हो जाती है।"[1]

प्रज्ञापना सूत्र में आर्य की बहुमुखी व्याख्या के सन्दर्भ में सूत्र-कार ने अनेक प्रकार के भाषा-आर्य का वर्णन करते हुए कहा है : "भाषा-आर्य-अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं और ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग करते हैं।"[2]

---

१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-सरीसिवाणं अप्पप्पणो हिय-सिव-सुहदाय भासत्ताए परिणमइ।

— समवायांग सूत्र; ३४

२. किं तं भासारिया? भासारिया अणेगविहा पण्णत्ता। त जहा—जेणं अद्धमागहीए भासाए भासइ जत्थ वियणं बंभी लिवी पवत्तई।

— प्रज्ञापना; पद १, ११

आगम विचार

धर्म-देशना

तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म-देशना देते हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य होता है, विविध भाषा-भाषी श्रोतृगण अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में वे भाषात्मक पुद्गल श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाते हैं। जैन-वाङ्मय में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं। समवायांग सूत्र में जहाँ तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों का वर्णन है, वहाँ उनके भाषातिशय के सम्बन्ध में कहा गया है : "तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा भाष्यमाण अर्द्ध-मागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप प्रभृति जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है।"[1]

प्रज्ञापना सूत्र में आर्य की बहुमुखी व्याख्या के सन्दर्भ में सूत्र-कार ने अनेक प्रकार के भाषा-आर्य का वर्णन करते हुए कहा है : "भाषा-आर्य अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं और ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग करते हैं।"[2]

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-सरीसिवाणं अप्पप्पणो हिय-सिव-सुहदाय भासत्ताए परिणमइ।
— समवायांग सूत्र; ३४

२. कि तं भासारिया? भासारिया अणेगविहा पण्णत्ता। त जहा—जेणं अद्धमागहीए भासाए भासइ जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तई।
— प्रज्ञापना; पद १, ३६

आगम विचार

धर्म-देशना

तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म-देशना देते हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य होता है, विविध भाषा-भाषी श्रोतृगण अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में वे भाषात्मक पुद्गल श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाते हैं। जैन-वाङ्मय में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं। समवायांग सूत्र में जहाँ तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों का वर्णन है, वहाँ उनके भाषातिशय के सम्बन्ध में कहा गया है : "तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा भाष्यमाण अर्द्ध-मागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप प्रभृति जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है।"[1]

प्रज्ञापना सूत्र में आर्य की बहुमुखी व्याख्या के सन्दर्भ में सूत्र-कार ने अनेक प्रकार के भाषा-आर्य का वर्णन करते हुए कहा है : "भाषा-आर्य-अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं और ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग करते हैं।"[2]

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-सरीसिवाणं अप्पप्पणो हिय-सिव-सुहदाय भासत्ताए परिणमइ।

— समवायांग सूत्र; ३४

२. से किं तं भासारिया? भासारिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—जेणं अद्धमागहीए भासाए भासइ जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तई।

— प्रज्ञापना; पद १. १८

आगम विचार

धर्म-देशना

तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म-देशना देते हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य होता है, विविध भाषा-भाषी श्रोतृगण अपनी-अपनी भाषा मे उसे समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों मे वे भाषात्मक पुद्गल श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाते हैं। जैन-वाङ्मय में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं। समवायांग सूत्र मे जहाँ तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों का वर्णन है, वहाँ उनके भाषातिशय के सम्बन्ध में कहा गया है : "तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा मे धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा भाष्यमाण अर्द्ध-मागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप प्रभृति जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है।"[1]

प्रज्ञापना सूत्र में आर्य की बहुमुखी व्याख्या के सन्दर्भ में सूत्र-कार ने अनेक प्रकार के भाषा-आर्य का वर्णन करते हुए कहा है : "भाषा-आर्य-अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं और ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग करते हैं।"[2]

---

१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-सरीसिवाणं अप्पप्पणो हिय-सिव-सुहदाय भासत्ताए परिणमइ।

— समवायांग सूत्र ; ३४

२. किं तं भासारिया ? भासारिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—जेणं अद्धमागहीए भासाए भासइ जत्थ वियणं बंभी लिवी पवत्तई।

— प्रज्ञापना ; पद १, ३६

औपपातिक सूत्र का प्रसंग है : "तब भगवान् महावीर अनेक-विध परिषद्-परिवृत (श्रेणिक) बिम्बिसार के पुत्र कूणिक (अजात-शत्रु) के समक्ष शरद् ऋतु के नव स्तनित—नूतन मेघ के गर्जन के समान मधुर तथा गम्भीर, क्रौंच पक्षी के घोष के समान मुखर, दुन्दुभि की ध्वनि की तरह हृद्य वाणी से, जो हृदय में विस्तार पाती हुई, कण्ठ में वर्तुलित होती हुई तथा मस्तक में आकीर्ण होती हुई व्यक्त, पृथक्-पृथक् स्पष्ट अक्षरों में उच्चारित, मम्मणा-अव्यक्त वचनता-रहित, सर्वाक्षर-समन्वययुक्त, पुण्यानुरक्त, सर्वभाषानुगामिनी, योजनपर्यन्त श्रूयमाण अर्द्धमागधी भाषा में बोलते हैं, धर्म का परिकथन करते हैं। वह अर्द्धमागधी भाषा उन आर्यों, अनार्यों की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है।"[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के मंगलाचरण में जैनी वाक् अर्द्धमागधी भाषा के रूप में व्याख्या करते हुए 'सर्वभाषापरिणताम्' पद से प्रशस्तता प्रकट की है। अलंकारतिलक के रचयिता वाग्भट ने भी उसी प्रकार सर्वज्ञाश्रित अर्द्धमागधी भाषा की स्तवना करते हुए भाव व्यक्त किये हैं : "हम उस अर्द्धमागधी भाषा का आदरपूर्वक ध्यान, स्तवन करते हैं, जो सब की है, सर्वज्ञों द्वारा व्यवहृत है, समग्र भाषाओं में परिणत होने वाली है, सार्वजनीन है, सब भाषाओं का स्रोत है।"[2]

भाषा-प्रयोग की अनेक विधाएँ होती हैं। जहाँ श्रद्धा, प्रशस्ति

---

१. समणे भगवं महावीरे कोणियस्स रण्णो भंभासार पुत्तस्स सारदनवत्थणिय-महुरगभीर कोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरेवित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे समाइण्णाए अगिलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवाईयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणिए सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासंति अरिहा धम्मं परिकहेंति तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण अगिलाए धम्म-माइक्खंति सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमंति।

— औपपातिक सूत्र ; पृ० ११७, ११८

२. सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सार्वीयां सर्वतो वाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥

— अलंकार – तिलक १, १

तथा समादर का भाव अधिक होता है, वहाँ भाषा अर्थवाद-प्रधान हो जाती है। इसे दूषणीय नहीं कहा जाता। परन्तु, जहाँ भाषा का प्रयोग जिस विधा में है, उसे यथावत् रूप में समझ लिया जाये तो कठिनाई नहीं होती। इसी दृष्टिकोण से ये प्रसंग ज्ञेय और व्याख्येय हैं। भगवान् श्री महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। इस समय उपलब्ध अर्द्धमागधी आगम-वाङ्मय उन्हीं की देशना पर आधारित है।

अत्थागम : सुत्तागम

आगम दो प्रकार के हैं—१ अत्थागम (अर्थागम) और २. सुत्तागम (सूत्रागम)। तीर्थंकर प्रकीर्ण रूप में जो उपदेश करते हैं, वह अर्थागम है। अर्थात् विभिन्न अर्थों—विषय-वस्तुओं पर जब-जब प्रसग आते हैं, तीर्थंकर प्ररूपणा करते रहते हैं। उनके प्रमुख शिष्य अर्थात्मक दृष्ट्या किये गये उपदेशों का सूत्ररूप में सकलन या सग्रथन करते रहते हैं। *आचार्य भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति* में इसी आशय को अग्रांकित शब्दावली में कहा गया है . "अर्हत् अर्थ का भाषण या व्याख्यान करते हैं। धर्म-शासन के हित के लिए गणधर उनके द्वारा व्याख्यात अर्थ का सूत्र रूप में ग्रथन करते हैं। इस प्रकार सूत्र प्रवृत्त होता है।"

१. इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा ६ मण्डित, ७ मौर्यपुत्र ८ अकम्पित, ९. अचल-भ्राता, १०. मेतार्य, ११ प्रभास, भगवान् महावीर के ये ग्यारह गणधर थे। उनका श्रमण-संघ नौ गणों में विभक्त था. जिनके नाम इस प्रकार हैं : १. गोदास गण, २. उत्तरवलियस्सय गण, ३ उद्देह गण, ४. चारण गण, ५ ऊर्ध्ववार्तिक गण, ६. विश्ववादी गण, ७. कामर्धिक गण, ८. माणव गण तथा ९ कोटिक गण।[1]

---

१. समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था। त जहा—गोदास गणे, उत्तरबलियस्सयगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उड्डवाइयगणे, विस्सवाइगणे, कामिड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।

— स्थानांग ; ९, २६

गणधर आगम-वाङ्मय का प्रसिद्ध शब्द है। आगमों में मुख्य-तया यह दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य गणधर कहे जाते हैं, जो तीर्थंकरों द्वारा अर्थागम के रूप में प्राप्त-ज्ञान का द्वादश अंगों के रूप में संकलन करते हैं। प्रत्येक गणधर के नियन्त्रण में एक गण होता है, जिसके संयम जीवितव्य के निर्वाह का गणधर पूरा ध्यान रखते हैं। गणधर का उससे भी अधिक आवश्यक कार्य है, अपने अधीनस्थ गण को आगम-वाचना देना।

तीर्थंकर अर्थ में जो आगमोपदेश करते हैं, उन्हें गणधर शब्द-वद्ध करते हैं। अर्थ की दृष्टि से समस्त आगम-वाङ्मय एक होता है, परन्तु, भिन्न-भिन्न गणधरों के द्वारा संग्रथित होने के कारण वह शाब्दिक दृष्टि से सर्वथा एक हो, ऐसा नहीं होता। शाब्दिक अन्तर स्वाभाविक है। अतः भिन्न-भिन्न गणधरों की वाचनाएँ शाब्दिक दृष्टि से सदृश नहीं होतीं। तत्वतः उनमें ऐक्य होता है।

ग्यारह गणधर : नौ गण

भगवान् महावीर के संघ में गणों और गणधरों की संख्या में दो का अन्तर था। उसका कारण यह है कि पहले से सातवें तक के गणधर एक-एक गण की व्यवस्था देखते थे, पृथक्-पृथक् आगम-वाचना देते थे, परन्तु, आगे चार गणधरों में दो-दो का एक-एक गण था। इसका तात्पर्य यह है कि आठवें और नौवें गण में श्रमण-संख्या कम थी; इसलिए दो-दो गणधरों पर सम्मिलित रूप से एक-एक गण का दायित्व था। तदनुसार अकम्पित और अचलभ्राता के पास आठवें गण का उत्तरदायित्व था तथा मेतार्य और प्रभास के पास नौवें गण का।

कल्पसूत्र में कहा गया है : "भगवान् महावीर के सभी ग्यारहों गणधर द्वादशांग-वेत्ता, चतुर्दश-पूर्वी तथा समस्त गणि-पिटक के धारक थे। राजगृह नगर में मासिक अनशन पूर्वक वे कालगत हुए, सर्वदुःख-प्रहीण बने अर्थात् मुक्त हुए। स्थविर इन्द्रभूति (गौतम) तथा स्थविर आर्य सुधर्मा; ये दोनों ही भगवान् महावीर के सिद्धिगत

होने के पश्चात् मुक्त हुए।"[1] ज्यों-ज्यों गणधर सिद्धि-प्राप्त होते गये, उनके गण सुधर्मा के गण में अन्तर्भावित होते गये।

श्रुत-संकलन

तीर्थंकर सर्वज्ञत्व प्राप्त करने के अनन्तर उपदेश करते हैं। तब उनका ज्ञान सर्वथा स्वाश्रित या आत्म-साक्षात्कृत होता है, जिसे दर्शन की भाषा में पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। सर्वज्ञ होने के बाद भगवान् महावीर ने समस्त जगत् के समग्र प्राणियों के कल्याण तथा श्रेयस् के लिए धर्म-देशना दी। उनकी धर्म-देशनाओं के सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर क्रम मिलता है। उनके निकटतम सुविनीत अन्तेवासी गौतम, यद्यपि स्वयं भी बहुत बड़े ज्ञानी थे, परन्तु, लोक-कल्याण की भावना से भगवान् महावीर से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। भगवान् उनका उत्तर देते थे। श्रुत का वह प्रवहमान स्रोत एक विपुल ज्ञान-राशि के रूप में परिणत हो गया।

भगवान् महावीर द्वारा अर्द्धमागधी में उपदिष्ट अर्थागम का आर्य सुधर्मा ने सूत्रागम के रूप में जो संग्रथन किया, अंशतः ही सही द्वादशांगी[2] के रूप में वही प्राप्त है। श्रुत-परम्परा के (महावीर के उत्तरवर्ती) स्रोत का आर्य सुधर्मा से जुड़ने का हेतु यह है कि वे ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी हुए, इसलिये आगे की सारी परम्परा आर्य सुधर्मा की (धर्म-) अपत्य-परम्परा या (धर्म-) वंश-परम्परा कही जाती है। कल्पसूत्र में लिखा है "जो आज श्रमण-निर्ग्रन्थ विद्यमान हैं, वे सभी अनगार आर्य सुधर्मा की अपत्य-परम्परा के हैं, क्योंकि और सभी गणधर निरपत्य रूप में निर्वाण को प्राप्त हुए।"[3]

---

१ सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थेरे इंदभूई थेरे अज्ज सुहम्मे सिद्धिं गए महावीरे पच्छा दोण्णि वि परिनिव्वुया॥ २०१॥

२. बारहवाँ अंग दृष्टिवाद अभी लुप्त है।

३ जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स आहावच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना।

मघता है, जब पाठ निज-वशगत - ग्रधिकृत या स्वायत्त हो जाता है।

४. मित — मित का ग्रर्थ मान, परिमाण या माप होता है। पाठ के साथ मित विशेषण का ग्राशय पाठगत ग्रक्षर ग्रादि की मर्यादा, नियम, संयोजन ग्रादि है।

५ परिजित — ग्रनुक्रमतया पाठ करना सरल है। यदि उसी पाठ का व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से उच्चारण किया जाये, तो बड़ी कठिनता होती है। यह तभी सम्भव होता है, जब पाठ परिजित ग्रर्थात् बहुत ग्रच्छी तरह ग्रधिकृत हो। ग्रध्येता को व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से पाठ करने का भी ग्रभ्यास हो।

६ नामसम — हर किसी को ग्रपना नाम प्रतिक्षण, किसी भी प्रकार की स्थिति मे सम्यक् स्मरण रहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को ग्रात्मसात् हो जाता है। ग्रपने नाम की तरह ग्रागम-पाठ का ग्रात्मसात् हो जाना। ऐसा होने पर ग्रध्येता किसी भी समय पाठ का यथावत् सहज रूप में उच्चारण कर सकता है।

७. घोषसम — घोष का ग्रर्थ ध्वनि है। पाठ शुद्ध घोष या ध्वनिपूर्वक उच्चरित किया जाना चाहिए। व्याख्याकारों ने घोष का ग्राशय उदात्त[1], ग्रनुदात्त[2] तथा स्वरित[3] ग्रभिहित किया है। जहाँ जिस प्रकार का स्वर उच्चरित होना ग्रपेक्षित हो, वहाँ वैसा ही उच्चरित होना। वेद-मन्त्रों[4] के उच्चारण मे बहुत सावधानी रखी जाती थी। घोषसम के ग्रभिप्राय मे इतना ग्रौर

---

१. उच्चैरुदात्त ।
२. नीचैरनुदात्तः ।
३. समवृत्त्या स्वरित. ।
} वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, १, २, २९–३१,

४. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
सा वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
— पाणिनीय शिक्षा, ५२

श्रुत: कण्ठाग्र: अपरिवर्त्य

वेदों को श्रुति कहे जाने का कारण सम्भवतः यही है कि उन्हें सुनकर, गुरु-मुख से आयत्त कर स्मरण रखने की परम्परा रही है। जैन आगम-वाङ्मय को भी श्रुत कहा जाता है। उसका भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उसे सुनकर, आचार्य या उपाध्याय से अधिगत कर याद रखे जाने का प्रचलन था। सुन कर जो स्मरण रखा जाए, उसमें सुनी हुई शब्दावली की यथावत्ता स्थिर रह सके, यह कठिन प्रतीत होता है। पुरा-कालीन मनीषियों के ध्यान से यह तथ्य बाहर नहीं था; अत: वे आरम्भ से ही इस ओर यथेष्ट जागरूकता और सावधानी बरतते रहे। वैदिक विद्वानों ने संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ तथा घन-पाठ के रूप में वेद-मन्त्रों के पठन या उच्चारण का एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निर्धारित किया था। इस वैज्ञानिक पाठ-क्रम के कारण ही वेदों का शाब्दिक कलेवर आज भी अक्षुण्ण विद्यमान है।

जैन आगमज्ञों ने इसे भलीभाँति अनुभव किया। उन्होंने भी आगमों के पाठ या उच्चारण के सम्बन्ध में कुछ ऐसी मर्यादाएँ, नियमन या परम्पराएँ बाँधीं, जिनसे पाठ का शुद्ध स्वरूप अपरिवर्त्य रह सके। अनुयोग-द्वार सूत्र में आगमत: द्रव्यावश्यक के प्रसंग में सूचित किया गया है कि आगम-पाठ की क्या-क्या विशेषताएँ हैं? वे इस प्रकार हैं[१] :

१. शिक्षित — साधारणतया पाठ सीख लेना, उसका सामान्यत: उच्चारण जान लेना।

२. स्थित — अधीत पाठ को मस्तिष्क में स्थिर करना।

३. जित — क्रमानुरूप आगम-वाणी का पठन करना। यह तभी

---

१. आगमओ दव्वावस्सयं — जस्स णं आवस्सएत्ति पदं — सिक्खतं, ठितं, जितं, मितं, परिजितं, नामसमं, घोससमं, अहीणक्खरं, अणच्चक्खरं, अव्वाइद्धक्खरं, अक्खलियं, अमिलियं, अवच्चामेलियं, पडिपुण्णं, पडिपुण्णघोसं, कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं।

— अनुयोगद्वार सूत्र; ११

श्रुतः कण्ठाग्रः अपरिवर्त्य

वेदों को श्रुति कहे जाने का कारण सम्भवतः यही है कि उन्हें सुनकर, गुरु-मुख से आयत्त कर स्मरण रखने की परम्परा रही है। जैन आगम-वाङ्मय को भी श्रुत कहा जाता है। उसका भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उसे सुनकर, आचार्य या उपाध्याय से अधिगत कर याद रखे जाने का प्रचलन था। सुन कर जो स्मरण रखा जाए, उसमें सुनी हुई शब्दावली की यथावत्ता स्थिर रह सके, यह कठिन प्रतीत होता है। पुरा-कालीन मनीषियों के ध्यान से यह तथ्य बाहर नहीं था; अतः वे आरम्भ से ही इस ओर यथेष्ट जागरूकता और सावधानी वरतते रहे। वैदिक विद्वानों ने संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ तथा घन-पाठ के रूप में वेद-मन्त्रों के पठन या उच्चारण का एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निर्धारित किया था। इस वैज्ञानिक पाठ-क्रम के कारण ही वेदों का शाब्दिक कलेवर आज भी अक्षुण्ण विद्यमान है।

जैन आगमज्ञों ने इसे भलीभाँति अनुभव किया। उन्होंने भी आगमों के पाठ या उच्चारण के सम्बन्ध में कुछ ऐसी मर्यादाएँ, नियमन या परम्पराएँ बाँधीं, जिनसे पाठ का शुद्ध स्वरूप अपरिवर्त्य रह सके। अनुयोग-द्वार सूत्र में आगमतः द्रव्यावश्यक के प्रसंग में सूचित किया गया है कि आगम-पाठ की क्या-क्या विशेषताएँ हैं? वे इस प्रकार हैं[1] :

१. शिक्षित — साधारणतया पाठ सीख लेना, उसका सामान्यतः उच्चारण जान लेना।

२. स्थित — अधीत पाठ को मस्तिष्क में स्थिर करना।

३. जित — क्रमानुरूप आगम-वाणी का पठन करना। यह तभी

---

१. आगमओ दव्वावस्सयं — जस्स णं आवस्सएति पदं — सिक्खितं, ठितं, जितं, मित, परिजितं, नामसमं, घोससमं, अहीणक्खरं, अणवक्खरं, अव्वाइद्धक्खरं, अक्खलियं, अमिलियं, अवच्चामेलियं, पडिपुण्णं, पडिपुण्णघोसं, कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं।

— अनुयोगद्वार सूत्र; ११

सधना है, जब पाठ निज-परगत - अधिकृत या स्वायत्त हो जाता है।

४. मित — मित का अर्थ मान, परिमाण या माप होता है। पाठ के साथ मित विशेषण का आशय पाठगत अक्षर आदि की मर्यादा, नियम, नियोजन आदि है।

५. परिजित — अनुक्रमतया पाठ करना सरल है। यदि उसी पाठ का *व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से उच्चारण किया जाये, तो* बड़ी कठिनता होती है। यह तभी सम्भव होता है, जब पाठ परिजित अर्थात् बहुत अच्छी तरह अधिकृत हो। अध्येता को व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से पाठ करने का भी अभ्यास हो।

६. नामसम — हर किसी को अपना नाम प्रतिक्षण, किसी भी प्रकार की स्थिति मे सम्यक् स्मरण रहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसात् हो जाता है। अपने नाम की तरह आगम-पाठ का आत्मसात् हो जाना। ऐसा होने पर अध्येता किसी भी समय पाठ का यथावत् सहज रूप में उच्चारण कर सकता है।

७. घोषसम — घोष का अर्थ ध्वनि है। पाठ शुद्ध घोष या ध्वनिपूर्वक उच्चरित किया जाना चाहिए। व्याख्याकारों ने घोष का आशय उदात्त[1], अनुदात्त[2] तथा स्वरित[3] अभिहित किया है। जहाँ जिस प्रकार का स्वर उच्चरित होना अपेक्षित हो, वहाँ वैसा ही उच्चरित होना। वेद-मन्त्रों[4] के उच्चारण में बहुत सावधानी रखी जाती थी। घोषसम के अभिप्राय में इतना और

---

१. उच्चैरुदात्त।
२. नीचैरनुदात्तः।
३. समाहारः स्वरितः।
} वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, १, २, २९-३१,

४. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
— पाणिनीय शिक्षा; ५२

जोड़ा जाना भी संगत प्रतीत होता है कि जिन वर्णों के जो-जो उच्चारण स्थान हों, उनका उन-उन स्थानों से यथावत् उच्चारण किया जाए। व्याकरण में उच्चारण-सम्बन्धी जिस उपक्रम को प्रयत्न[1] कहा जाता है, घोषसम में उसका भी समावेश होता है।

८. अहीनाक्षर—उच्चार्यमाण पाठ में किसी भी वर्ण को हीन अर्थात् गायब या अस्पष्ट न करना। पाठ स्पष्ट होना चाहिए।

९. अनत्यक्षर—उच्चार्यमाण पाठ में जितने अक्षर हों, ठीक वे ही उच्चरित, हों, कोई अतिरिक्त या अधिक न मिल जाए।

---

१. वर्णों के उच्चारण में कुछ चेष्टा करनी पड़ती है, उसे 'यत्न' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। जो यत्न वर्ण के मुख से बाहर आने से पूर्व अन्तराल में होता है, उसको आभ्यन्तर कहते हैं। बिना इसके बाह्य यत्न निष्फल है। यही इसकी प्रकृष्टता है; अतएव इसे 'प्रयत्न' कहा जाता है। 'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः' यह अर्थ संगत भी इसीलिये है। इसका अनुभव उच्चारण करने वाला ही कर सकता है; क्योंकि उसी के मुख के अन्तराल में यह होता है। दूसरा यत्न मुख से वर्ण निकलते समय होता है; अतएव यह बाह्य कहा जाता है। इसका अनुभव सुनने वाला भी कर सकता है।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पंचधा—स्पृष्ट-ईषत्स्पृष्ट-ईषद्विवृत-विवृत - संवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्ट -मन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

बाह्यस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादोऽघोषो घोषोल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोनुदात्तः स्वरितश्चेति।

खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च।

हशः संवारा नादा घोषाश्च।

वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमा यणश्चाल्पप्राणाः।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

— लघु सिद्धान्त कौमुदी; संज्ञाप्रकरणम्, पृ० १८–२०

१०. अव्याविद्धाक्षर—अ+वि+आ+विद्ध के योग से अव्याविद्ध शब्द बना है। विद्ध का अर्थ विंधा हुआ है और उसके पहले आ उपसर्ग लग जाने से उसका अर्थ सब ओर से या भलीभाँति विंधा हुआ हो जाता है। 'आ' से पूर्व लगा 'वि' उपसर्ग विंध जाने के अर्थ में और विशेषता ला देता है। अक्षर के व्याविद्ध होने का अर्थ है, उसका अपहृत होना, पीडित होना। अपहनन या पीडन का आशय अक्षरों के विपरीत या उल्टे पठन से है। वैसा नही होना चाहिए।

११. अस्खलित—पाठ का यथाप्रवाह उच्चारण होना चाहिए। प्रवाह मे एक लय (Rhythm) होती है जिसमे पाठ द्वारा व्यज्यमान आशय सुष्ठुतया अवस्थित रहता है, अतएव पाठ मे स्खलन नही होना चाहिए। अस्खलित रूप मे किये जाने वाले पाठ की अर्थ-ज्ञापकता वैशद्य लिये रहती है।

१२. अमिलित—अजागरूकता या असावधानी से किये जाने वाले पाठ मे यह आशकित रहता है कि दूसरे अक्षर कदाचित् पाठ के अक्षरो के साथ मिल जायें। वैसा होने से पाठोच्चारण की शुद्धता व्याहत हो जाती है। वैसा नही होना चाहिये।

१३. अव्यत्याम्रेडित—अ+वि+अति+आम्रेडित के योग से यह शब्द बना है। आम्रेडित का अर्थ शब्द या ध्वनि की आवृत्ति[1] है। पाइअ सद्दमहण्णवो मे 'वच्चामेलिय' और 'विच्चामेलिय' दोनो रूप दिये है। दोनो का एक ही अर्थ है। वहाँ 'भिन्न-भिन्न अशो से मिश्रित, अस्थान में ही छिन्न होकर फिर ग्रथित तथा तोड

१. संस्कृत—(क) हिन्दी कोष ; आप्टे, पृ० ११५

(ख) Reduplication : Sanskrit–English Dictionary — Sir Monier M. Williams ; p 147.

कर सांधा हुआ' अर्थ[1] किया गया है। सूत्र-व्याख्याताओं ने इसका अर्थ अन्य सूत्रों अथवा शास्त्रों के मिलते-जुलते या समानार्थक पाठ को साथ या क्रिय-माण—उच्चार्यमाण पाठ से मिला देना किया है, जो कोशकारों द्वारा की गयी व्याख्या से मिलता हुआ है। शास्त्र-पाठ या सूत्रोच्चारण में आम्रेडन, अत्या-धिक आम्रेडन—अत्याम्रेडन नहीं होना चाहिए।

१४. प्रतिपूर्ण—शीघ्रता या अतिशीघ्रता से अस्त-व्यस्तता आती है, जिससे उच्चारणीय पाठ का अंश छूट भी सकता है। पाठ का परिपूर्ण रूप से—समग्रतया, उसके बिना किसी अंश को छोड़े उच्चारण किया जाना चाहिए।

१५. प्रतिपूर्णघोष—पाठोच्चारण में जहाँ लय के अनुरूप बोलना आवश्यक है, वहाँ ध्वनि का परिपूर्ण या स्पष्ट उच्चारण भी उतना ही अपेक्षित है। उच्चार्यमाण पाठ का उच्चारण इतने मन्द स्वर से न हो कि उसके सुनाई देने में भी कठिनाई हो। प्रतिपूर्ण घोष समी-चीन, संगत, वांछित स्वर से उच्चारण करने का सूचक है। जैसे, मन्द स्वर से उच्चारण करना वर्ज्य है, उसी प्रकार अति तीव्र स्वर से उच्चारण करना भी दूषणीय है।

१६. कण्ठौष्ठविप्रमुक्त—कण्ठ+ओष्ठ+विप्र+मुक्त के योग से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्त का अर्थ छूटा हुआ है। जहाँ उच्चारण में कम सावधानी बरती जाती है, वहाँ उच्चार्यमाण वर्ण कुछ कण्ठ में, कुछ होठों में बहुधा अटक जाते हैं। जैसा अपेक्षित हो, वैसा स्पष्ट और सुबोध्य उच्चारण नहीं हो पाता।

पाठोच्चारण के सम्बन्ध में जो सूचन किया गया है, वह एक ओर उच्चारण के परिष्कृत रूप और प्रवाह की यथावत्ता बनाये रखने के यत्न का द्योतक है, वहाँ दूसरी ओर उच्चारण, पठन, अभ्यास-

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो; पृ० ७७६

पूर्वक अधिगत या स्वायत्त किये गये शास्त्रों को यथावत् स्मृति में टिकाये रखने का भी सूचक है। इन सूचनाओं में अनुक्रम, व्यतिक्रम तथा व्युत्क्रम से पाठ करना, पाठ में किसी वर्ण को लुप्त न करना, अधिक या अतिरिक्त अक्षर न जोड़ना, पाठगत अक्षरों को परस्पर न मिलाना या किन्हीं अन्य अक्षरों को पाठ के अक्षरों के साथ न मिलाना आदि के रूप में जो तथ्य उपस्थित किये गये हैं, वे वस्तुत. बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके लिये सम्भवत यही भावना रही हुई प्रतीत होती है कि श्रमण-परम्परा से उत्तरोत्तर गतिशील द्वादशांगमय आगम-वाङ्मय का स्रोत कभी परिवर्तित, विचलित तथा विकृत न होने पाये।

श्रुत का उद्‌भव

सर्वज्ञ ज्ञान की प्ररूपणा या अभिव्यजना क्यों करते हैं, वह आगम रूप में किस प्रकार परिणत होता है, इसका विशेषावश्यक भाष्य में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। वहा कहा गया है "तप, नियम तथा ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ अमित—अनन्त ज्ञान-सम्पन्न केवली-ज्ञानी भव्यजनो को उद्‌बोधित करने के हेतु ज्ञान-पुष्पो की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे बुद्धिरूपी पट में ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं।"[१]

वृक्ष के दृष्टान्त का विशदीकरण करते हुये भाष्यकार लिखते है: "जैसे, विपुल वन-खण्ड के मध्य एक रम्य, उन्नत तथा प्रलम्ब शाखान्वित कल्पवृक्ष है। एक साहसिक व्यक्ति उस पर आरूढ हो जाता है। वह वहा अनेक प्रकार के सुरभित पुष्पों को ग्रहण कर लेता है। भूमि पर ऐसे पुरुष हैं, जो पुष्प लेने के इच्छुक हैं और तदर्थ उन्होंने अपने वस्त्र फैला रखे हैं। वह व्यक्ति उन फूलों को फैलाये हुए वस्त्रों पर प्रक्षिप्त कर देता है। वे पुरुष अन्य लोगो पर अनुकम्पा

---

१. तव-नियम-नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥
— विशेषावश्यक भाष्य : १०९४-९५

करने के निमित्त उन फूलों को गूंथते हैं। इसी तरह यह जगत् एक वनखण्ड है। वहां तप, नियम और ज्ञानमय कल्प वृक्ष है। चौंतीस अतिशय-युक्त सर्वज्ञ उस पर आरूढ़ हैं। वे केवली परिपूर्ण ज्ञान-रूपी पुष्पों को छद्मस्थता रूप भूमि पर अवस्थित ज्ञान रूपी पुष्प के अर्थी-इच्छुक गणधरों के निर्मल बुद्धिरूपी पट पर प्रक्षिप्त करते हैं।"[1]

भाष्यकार ने स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करते हुए उसका और विश्लेषण किया है, जो पठनीय है: "सर्वज्ञ भगवान कृतार्थ हैं। कुछ करना उनके लिए शेष नहीं है। फिर वे धर्म-प्ररूपणा क्यों करते हैं? सर्वज्ञ सर्व उपाय और विधि-वेत्ता हैं। वे भव्यजनों को उपदेश देने के लिये ही ऐसा करते हैं, अभव्यों को क्यों नहीं उद्बोधित करते?"

समाधान प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं: 'तीर्थंकर एकान्त रूप में कृतार्थ नहीं हैं; क्योंकि उनके जिन नाम-कर्म का उदय है। वह कर्म वन्ध्य या निष्फल नहीं है; अतः उसे क्षीण करने के हेतु यही उपाय है। अथवा कृतार्थ होते हुए भी जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है, वैसे ही दूसरों से उपकृत न होकर भी परोपकार परायणता

१. रुक्खाइरुवयनिरूवणत्थमिह दव्वरुक्खदिट्ठंतो।
जह कोइ विउलवणसंडमज्झयारट्ठियं रम्मं॥
तुंगं विउलक्खंधं साइसओ कप्परुक्खमारूढो।
पज्जत्तगहियबहुविहसुरभिकुसुमोगुकंपाए॥
कुसुमत्थिभूमिचिट्ठिय पुरिसपसारियपडेसु पक्खिवइ।
गंथति ते घेत्तुं सेसजणाणुग्गहट्ठाए।
लोगवणसंडमज्झे चोत्तीसाइसयसंपदोवेओ।
तव-नियम-नाणमइय स कप्परुक्ख समारूढो॥
मा होज्ज नाणगहणम्मि संसओ तेण केवलिग्गहणं।
सो वि चउहा तओ यं सव्वण्णू अमियनाणि त्ति॥
पज्जत्तनाणकुसुमो ताइं छउमत्थभूमिसंथेसु।
नाणकुसुमत्थिगणहरसियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ॥

—विशेषावश्यक भाष्य: १०९६-११०१

के कारण दूसरों का परमहित करना उनका स्वभाव है। कमल सूर्य से बोध पाते हैं—विकसित होते हैं, तो क्या सूर्य का उनके प्रति राग है ? सूर्य की किरणों का प्रभाव एक समान है, पर, कमल उससे विकसित होते हैं, कुमुद नहीं होते, तो *क्या सूर्य का उनके प्रति द्वेष है ?* सूर्य की किरणों का प्रभाव एक समान है, पर, कमल उससे जो विकसित होते हैं और कुमुद नहीं होते, यह सूर्य का, कमलों का, कुमुदों का अपना-अपना स्वभाव है। उगा हुआ भी प्रकाशधर्मा सूर्य उल्लू के लिए उसके अपने दोष के कारण अन्धकाररूप है, उसी प्रकार जिन रूपी सूर्य अभव्यों के लिए बोध-रूपी प्रकाश नहीं कर सकते। अथवा जिस प्रकार साध्य रोग की चिकित्सा करता हुआ वैद्य रोगी के प्रति *रागी और असाध्य रोग की चिकित्सा न करता हुआ रोगी के प्रति* द्वेषी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार भव्यजनों के कर्म-रोग को नष्ट करते हुए जिनेन्द्ररूपी वैद्य उसके प्रति रागी नहीं होते तथा अभव्य जनों के असाध्य कर्म-रूपी रोग का अपचय न करने से उनके प्रति वे द्वेषी नहीं कहे जा सकते। जैसे कलाकार अनुपयुक्त काष्ठ आदि को छोड़ कर उपयुक्त काष्ठ आदि में रूप-रचना करता हुआ अनुपयुक्त काष्ठ के प्रति द्वेषी और उपयुक्त काष्ठ के प्रति अनुरागी नहीं कहा जाता, उसी प्रकार योग्य को प्रतिबोध देते हुए और अयोग्य को न देते हुए जिनेश्वर देव न योग्य के प्रति रागी और न अयोग्य के प्रति द्वेषी कहे जा सकते हैं।"[1]

---

१. कीस कहइ कयत्थो कि वा भवियाण चेव बोहाय ।
सव्वोवायविहिण्णू किं वाऽभव्वे न बोहेइ ॥
नेगन्तेण कयत्थो जेणोदिण्णं जिणिंदनाम से ।
तदवस्सवेयणिज्जं तस्स य भवणोवाओऽयमेव जओ ॥
जं च कयत्थस्स वि से अणुवकयपरोवगारिसाभव्वं ।
परमं परेसमत्तं भासयओऽभव्वविव रविणो ॥
किं व कमलेसु राओ रविणो बोहेइ जेण सो ताइं ।
कुमुएसु व से दोसो जं न विबुज्झंति से ताइं ॥
जं बोह-मउलणाइं सूरकरामरिसओ समाणाओ ।

क्रमशः

पुष्पमाला की तरह सूत्रमाला का ग्रथन

बीजादि बुद्धि-सम्पन्न[1] व्यक्ति (गणधर) उस ज्ञानमयी पुष्पवृष्टि को समग्रतया ग्रहण कर विचित्र पुष्प-माला की तरह प्रवचन[2] के निमित्त सूत्र-माला—शास्त्र ग्रथित करते हैं। जिस प्रकार मुक्त—बिखरे हुये पुष्पों का ग्रहण दुष्कर होता है और गूंथे हुये पुष्पों या पुष्प-गुच्छों का ग्रहण सुकर होता है, वही प्रकार जिन-वचन रूपी पुष्पों के सम्बन्ध

पिछले पृष्ठ का शेष

कमलकुमुयाण तो तं साभव्वं तस्स तेसिं च ॥
जह वोलूगाईण पगासधम्मावि सो सदोसेणं।
उइओ वि तमोरूवो एवमभव्वाण जिणसूरो ॥
सज्झं तिगिच्छमाणो रोगं रागी न भण्णए वेज्जो।
मुणमाणो य असज्झं निसेहयंतो जह अदोसो ॥
तह भव्वकम्मरोगं नासंतो रागवं न जिणवेज्जो।
न य दोसी अभव्वासज्झकम्मरोगं निसेहंतो ॥
मोत्तुमजोग्गं जोग्गे दलिए रूवं करेइ रुवयारो।
न य रागद्दोसिल्लो तहेव जोग्गे विबोहंतो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य : ११०२-१११०

१. जिस बुद्धि के द्वारा एक पद से अनेक पद गृहीत कर लिये जाते हैं, उसे बीज-बुद्धि कहते हैं। बीज-बुद्धि के साथ पाठ में उल्लिखित आदि शब्द कोष्ठ-बुद्धि का सूचक है। जैसे, धान्य-कोष्ठ अपने में अखण्ड धान्य-भण्डार संजोये रहता है, उसी प्रकार जो बुद्धि अखण्ड सूत्र-वाङ्मय को धारण करती है, वह कोष्ठ-बुद्धि कही जाती है।

२. प्रवचन का अभिप्राय प्रसिद्ध वचन या प्रशस्त वचन या धर्म-संघ से है। अथवा प्रवचन से द्वादशांग लिया जा सकता है। वह (द्वादशांग श्रुत) किस प्रकार (उद्भावित) हो, इस आशय से द्वादशांगात्मक प्रवचन के विस्तार के लिये या संघ पर अनुग्रह करने के लिये गणधर सूत्र रचना करते हैं। द्वादशांग रूप प्रवचन सुख-पूर्वक ग्रहण किया जा सके, उसका सुखपूर्वक गुणन-परावर्तन, धारण-स्मरण किया जा सके, सुखपूर्वक दूसरों को दिया जा सके, सुखपूर्वक पृच्छा-विवेचन, विश्लेषण, अन्वेषण किया जा सके, एतदर्थ गणधरों का सूत्र रचना का प्रयत्न होता है।

में है। पद, वाक्य, प्रकरण, अध्ययन, प्राभृत आदि निश्चित क्रमपूर्वक वे (सूत्र) व्यवस्थित हों, तो यह गृहीत है, यह गृहीतव्य है, इस प्रकार समीचीनता और सरलता के साथ उनका ग्रहण, गुणन-परावर्तन, धारण-स्मरण, दान, पृच्छा आदि सध सकते हैं। इसी कारण गणधरों ने श्रुत की अविच्छिन्न रचना की। उनके लिए वैसा अवश्य करणीय था, क्योंकि उन (गणधरों) की वैसी मर्यादा है। गणधर-नाम-कर्म के उदय से उनके द्वारा श्रुत-रचना किया जाना अनिवार्य है। सभी गणधर ऐसा करते रहे हैं।"[1]

स्पष्टीकरण के हेतु भाष्यकार जिज्ञासा-समाधान की भाषा में आगे बतलाते हैं: "तीर्थंकर द्वारा आख्यात वचनों को गणधर स्वरूप या कलेवर देते हैं। फिर उनमें क्या विशेषता है? यथार्थता यह है कि तीर्थंकर,गणधरों की बुद्धि की अपेक्षा से संक्षेप में तत्त्वाख्यान करते हैं, सर्वसाधारण हेतुक विस्तार से नहीं। दूसरे शब्दों में अर्हत् (सूक्ष्म) अर्थभाषित करते हैं। गणधर निपुणतापूर्वक उसका (विस्तृत) सूत्रात्मक ग्रथन करते हैं। इस प्रकार धर्म-शास्त्र के हित के लिये सूत्र प्रवर्तित होते हैं।"[2]

---

१. तं नाणकुसुमवुट्ठिं घेत्तुं बीयाइबुद्धिणो सव्वं।
गंथंति पवयणट्ठा माला इव चित्तकुसुमाणं॥
पगयं वयणं पवयणमिह सुयनाणं कह तयं होज्जा।
पवयणमहवा संघो गहंति तयणुग्गहट्ठाए॥
घेत्तुं च सुहं सुहगुणणधारणा दाउं पुच्छिउं चेव।
एएहिं कारणेहिं जीयं ति कयं गणहरेहिं॥
मुक्ककुसुमाणं गहणाइयाइं जह दुक्करं करेउं जे।
गुच्छाण व सुहयरं तहेव जिणवयणकुसुमाणं॥
पय वक्क-पगरण-ज्झाय-पाहुडाइनियतक्कमपमाणं।
तदणुसरंता सुह चिय घेप्पइ गहियं इद गेज्झं॥
एवं गुणणं धरणं दाणं पुच्छा य तदणुसारेणं।
होइ सुहं जीयं पि य कायव्वमियं अओऽवस्सं॥
सव्वेहिं गणहरेहिं जीयं ति सुयं जओ न वोच्छिन्नं।
गणहरमज्जाया वा जीयं सव्वाणुचिण्णं वा॥—विशेषावश्यक भाष्य: ११११-१७

२. जिणभणिए च्चिय सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ?
सो तदविक्खं भासइ न उ वित्थरओ सुयं किं तु॥
अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तेइ॥ वही, १११८-१९

अर्थ की अनभिलाप्यता

अर्थ की वाग्गम्यता या वागगम्यता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने के अभिप्राय से भाष्यकार लिखते हैं : "अर्थ अनभिलाप्य है। वह अभिलाप या निर्वचन का विषय नहीं है; इसलिये शब्दरूपात्मक नहीं है। ऐसी स्थिति में अर्थ का किस प्रकार कथन कर सकते हैं ? शब्द का फल अर्थ-प्रत्यायन है—वह अर्थ की प्रतीति कराता है; इसलिये शब्द में अर्थ का उपचार किया गया है। इस दृष्टिकोण से अर्थ-कथन का उल्लेख किया गया है।"

पुनः आशंका करते हैं : "तब ऐसा कहा जा सकता है, अर्हत्, अर्थ-प्रत्यायक सूत्र ही भाषित करते हैं, अर्थ नहीं। गणधर उसी का संचयन करते हैं। तब दोनों में क्या अन्तर हुआ ?"

समाधान दिया जाता है—अर्हत् पुरुषापेक्षया—गणधरों की अपेक्षा से स्तोक—थोड़ा-सा कहते हैं, वे द्वादशांगी नहीं कहते; अतः द्वादशांगी की अपेक्षा से वह (अर्हत्-भाषित) अर्थ है तथा गणधरों की अपेक्षा से सूत्र।"[1]

मातृका-पद

उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवत्व मूलक तीन पद, जो अर्हत् द्वारा भाषित होते हैं, 'मातृका-पद' कहे जाते हैं। उस सम्बन्ध में भाष्यकार लिखते हैं : "अंगादि सूत्र-रचना से निरपेक्ष होने के कारण (तीन) मातृका-पद अर्थ कहे जाते हैं। जिस प्रकार द्वादशांग प्रवचन—संघ के लिये हितकर है, उस प्रकार वे (मातृका-पद) हितकर नहीं हैं। संघ के लिये वही हितकर है, जो सुखपूर्वक ग्रहण किया जा सके।

---

१. नणु अत्थोऽणभिलप्पो स कहं भासइ न सद्दरूवो सो।
सद्दम्मि तदुवयारो अत्थप्पच्चायणफलम्मि ॥
तो सुत्तमेव भासइ अत्थप्पच्चायगं, न नामत्थं।
गणहारिणो वि तं चिय करिति को पडिविसेसोऽत्थ ॥
सो पुरिसाविक्खाए थोवं भणइ न उ बारसंगाइं।
अत्थो तदविक्खाए सुत्तं चिय गणहराणं तं।

—विशेषावश्यक भाष्य : ११२०-२२

वह गणधरों द्वारा रचित बारह प्रकार का श्रुत है। वह निपुण—नियतगुण या निर्दोष, सूक्ष्म तथा महान्-विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक है।''[1]

भाष्यकार ने द्वादशांगात्मक आगम-रचना हेतु, परम्परा, क्रम, प्रयोजन, आदि के सन्दर्भ में बहुत विस्तार से जो कहा है, उसका मानसिक झुकाव यह सिद्ध करने की ओर विशेष प्रतीत होता है कि आगमिक परम्परा का उद्गम-स्रोत तीर्थंकर है, अतः गणधरों का कर्तृत्व केवल निर्यूहण, संकलन या ग्रथन मात्र से है।

वैदिक परम्परा में वेद अपौरुषेय माने गये हैं। परमात्मा ने ऋषियों के मन में वेद—ज्ञानमय मन्त्रों की अवतारणा की। ऋषियों ने अन्तश्चक्षुओं से उन्हें देखा। फलतः शब्दरूप में उन्होंने उन्हें अभिव्यंजना दी। ऋषि मन्त्र-द्रष्टा थे, मन्त्र-स्रष्टा नहीं। इसी प्रकार भाष्यकार द्वारा व्याख्यात किये गये तथ्यों से यह प्रकट होता है, गणधर वास्तव में आगम स्रष्टा नहीं थे, प्रत्युत वे अर्हत्-प्ररूपित श्रुत के द्रष्टा या अनुभविता मात्र थे। जो उनके दर्शन और अनुभूति का विषय बना, उन्होंने शब्द रूप में उसकी अवतारणा की। भारतवर्ष की प्रायः सभी प्राचीन धार्मिक परम्पराओं का यह सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न देखा जाता है कि उनका वाङ्मय अपौरुषेय, अनादि, ईश्वरीय या आर्ष है।

पूर्वात्मक ज्ञान और द्वादशांग

जैन वाङ्मय में ज्ञानियों की दो प्रकार की परम्परायें प्राप्त होती हैः—पूर्वधर और द्वादशांग-वेत्ता। पूर्वों में समग्र श्रुत या वाक्-

---

१. गणहरसुत्तरयणानिरवेक्खो जेण तेण सो अत्थो।
अहवा न सेसघयणाहियउ त्ति अह बारसंगमिए॥
पयपाहियं पुण तयं जं सुहगहणाइ गणहरेहितो।
बारसविह पवत्तइ निउणं सुहुमं महत्थं च॥
नियपगुणो वा निउणं निद्दोसं गणहराड्क्या निउणा।
तं पुण किमाइ-पज्जंतमाणमिह को व से सारो॥
—विशेषावश्यक भाष्य : ११२३-२५

परिज्ञेय समग्र ज्ञान का समावेश माना गया है। वे संख्या में चतुर्दश हैं। जैन श्रमणों में पूर्वधरों का ज्ञान की दृष्टि से उच्च स्थान रहा है। जो श्रमण चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान धारण करते थे, उन्हें श्रुत-केवली कहा जाता था। एक मत ऐसा है, जिसके अनुसार पूर्व ज्ञान भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती समय से चला आ रहा था। भगवान् महावीर के पश्चात् अर्थात् उत्तरवर्ती काल में जो वाङ्मय सर्जित हुआ, उससे पूर्व का होने से यह (पूर्वात्मक ज्ञान) 'पूर्व' शब्द से सम्बोधित किया जाने लगा। उसकी अभिधा के रूप में प्रयुक्त 'पूर्व' शब्द सम्भवतः इसी तथ्य पर आधृत है।

द्वादशांगी से पूर्व पूर्व-रचना

एक दूसरे अभिमत के अनुसार द्वादशांगी की रचना से पूर्व गणधरों द्वारा अर्हत्-भाषित तीन मातृका-पदों के आधार पर चतुर्दश शास्त्र रचे गये, जिनमें समग्रश्रुत की अवतारणा की गयी; आवश्यक निर्युक्ति में ऐसा उल्लेख है।[1]

द्वादशांगी से पूर्व—पहले यह रचना की गयी; अतः ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्वों के नाम से विख्यात हुये। श्रुत ज्ञान के कठिन, कठिनतर और कठिनतम विषय शास्त्रीय पद्धति से इनमें निरूपित हुये। यही कारण है, यह वाङ्मय विशेषतः विद्वत्प्रयोज्य था। साधारण बुद्धिवालों के लिये यह दुर्गम था; अतएव इसके आधार पर उनके लाभ के लिये द्वादशांगी की रचना की गयी।

---

१. धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइं देसया तस्स।
सव्वजिणाण गणहरा चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइया वा वयजीवनिकायभावणा पढमं।
एसो धम्मोवावो जिणेहि सव्वेहि उवइट्ठो॥

—आवश्यक निर्युक्ति : गाथा २९२-९३

आवश्यक निर्युक्ति[1] विवरण में आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में जो लिखा है, पठनीय है।

दृष्टिवाद में पूर्वों का समावेश

द्वादशांगी के बारहवें भाग का नाम दृष्टिवाद है। यह पांच भागों में विभक्त है—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। चतुर्थ विभाग पूर्वगत मे चतुर्दश पूर्व ज्ञान का समावेश माना गया है। पूर्व ज्ञान के आधार पर द्वादशांगी की रचना हुई, फिर भी पूर्व ज्ञान को छोड़ देना सम्भवतः उपयुक्त नही लगा। यही कारण है कि अन्ततः दृष्टिवाद में उसे सन्निविष्ट कर दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि जैन तत्व-ज्ञान के महत्वपूर्ण विषय उसमें सूक्ष्म विश्लेषण पूर्वक बड़े विस्तार से व्याख्यात थे।

विशेषावश्यक भाष्य में उल्लेख है कि यद्यपि भूतवाद या दृष्टिवाद मे समग्र उपयोग—ज्ञान का अवतरण अर्थात् समग्र वाङ्मय अन्तर्भूत है। परन्तु, अल्पबुद्धि वाले लोगों तथा स्त्रियों के उपकार के हेतु उससे शेष श्रुत का निर्यूहण हुआ, उसके आधार पर सारे वाङ्मय का सर्जन हुआ।[2]

पूर्व रचना : काल तारतम्य

पूर्वों की रचना के सम्बन्ध मे आचारांग-निर्युक्ति में एक और

---

१. ननु पूर्वं तावत् पूर्वाणि भगवद्भिर्गणधरैरुपनिबध्यन्ते, पूर्वं करणात् पूर्वाणीति पूर्वाचार्यप्रदर्शितव्युत्पत्तिश्रवणात्, पूर्वेषु च सकलवाङ्मय-स्यावतारो, न खलु तदस्ति यत्पूर्वेषु नाभिहितं, ततः किं शेषाङ्गविरचनेनाङ्ग-बाह्यविरचनेन वा ? उच्यते, इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात्, तेषां च दुर्मेधस्त्वात्, स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानधिकार एव, तासां तुच्छत्वादि-दोषबहुलत्वात्।

—पृ० ४८ : प्रकाशक आगमोदय समिति, बम्बई

२. जइवि य भूयावाए सव्वस्स वओगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहा वि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥

—विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५१

संकेत किया गया है, जो पूर्व के उल्लेखों से भिन्न है। वहां सर्वप्रथम आचारांग की रचना का उल्लेख है, उसके अनन्तर अंग-साहित्य और इतर वाङ्मय का। जहां एक ओर पूर्व वाङ्मय की रचना के सम्बन्ध में प्रायः अधिकांश विद्वानों का अभिमत उनके द्वादशांगी से पहले रचे जाने का है, वहां आचारांग-निर्युक्ति में सब से पहले आचारांग के सर्जन का उल्लेख एक भेद उत्पन्न करता है। वर्तमान में उसके अपाकरण का कोई साधक हेतु उपलब्ध नहीं है; इसलिये इसका निष्कर्ष निकालने की ओर विद्वज्जनों का प्रयास रहना चाहिए।

सभी मतों के परिप्रेक्ष्य में ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है कि पूर्व वाङ्मय की परम्परा सम्भवतः पहले से रही है और वह मुख्यतः तत्त्ववाद की निरूपक रही है। वह विशेषतः उन लोगों के लिये थी, जो स्वभावतः दार्शनिक मस्तिष्क और तात्त्विक रुचि-सम्पन्न होते थे, सर्वसाधारण के लिये उसका उपयोग नहीं था। इसलिये कुछ उक्तियां प्रचलित हुईं—बालकों, नारियों, वृद्धों, अल्पमेधावियों या गूढ़ तत्व समझने की न्यून क्षमता वालों के हित के लिये प्राकृत में धर्म-सिद्धांत की अवतारणा हुई।[1]

पूर्व वाङ्मय की भाषा

पूर्व वाङ्मय अत्यधिक विशालता के कारण शब्द-रूप में समग्रतया व्यक्त किया जा सके, सम्भव नहीं माना जाता। परम्परया कहा जाता है कि, मसी-चूर्ण की इतनी विशाल राशि हो कि अंबारी सहित हाथी भी उसमें ढंक जाये, उस मसी चूर्ण को जल में घोला जाए। उससे पूर्व लिखे जाएं, तथापि वह मसी-चूर्ण अपर्याप्त रहेगा। वे लेख में नहीं बांधे जा सकेंगे। अर्थात् पूर्व ज्ञान समग्रतया शब्द का विषय नहीं है। वह लब्धिरूप—आत्मक्षमतानुस्यूत है। पर, इतना सम्भाव्य मानना ही होगा कि जितना भी अंश रहा हो, शब्द-रूप

---

१. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

—दशवैकालिक वृत्ति; पृ० २०३

में उसकी अवतारणा अवश्य हुई। तब प्रश्न उपस्थित होता है, किस भाषा में ऐसा किया गया ?

साधारणतया यह मान्यता है कि पूर्व संस्कृत-बद्ध[1] थे। कुछ विद्वानों का इस सम्बन्ध में अन्यथा मत भी है। वे पूर्वों के साथ किसी भी भाषा को जोड़ना नहीं चाहते। लब्धिरूप होने से जिस किसी भाषा में उनकी अभिव्यंजना सम्भाव्य है। सिद्धान्ततः ऐसा भी सम्भावित हो सकता है, पर चतुर्दश पूर्वधरों की, दश पूर्वधरों की, क्रमशः हीयमान पूर्वधरों की एक परम्परा रही है। उन पूर्वधरों द्वारा अधिगत पूर्व-ज्ञान, जितना भी वाग्-विषयता में संचित हुआ, वहां किसी-न-किसी भाषा का अवलम्बन अवश्य ही रहा होगा। यदि संस्कृत में वैसा हुआ, तो स्वभावतः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जैन मान्यता के अनुसार प्राकृत (अर्द्धमागधी) आदि भाषा है। तीर्थंकर अर्द्धमागधी में धर्म-देशना देते हैं, जो श्रोतृ समुदाय की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है। देवता इसी भाषा में बोलते हैं। अर्थात् वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वालों के अनुसार छन्दस् (वैदिक संस्कृत) का जो महत्व है, जैन धर्म में आस्था रखने वालों के लिये आर्षत्व के सन्दर्भ में वही महत्व प्राकृत का है।

भारत में प्राकृत बोलियां अत्यन्त प्राचीन काल से लोक-भाषा के रूप में व्यवहृत रही हैं। छन्दस् सम्भवतः उन्हीं बोलियों में से किसी एक पर आधृत शिष्ट रूप है। लौकिक संस्कृत का काल उससे पश्चाद्वर्ती है। इस स्थिति में पूर्वश्रुत को भाषात्मक दृष्टि से संस्कृत के साथ जोड़ना कहां तक संगत है ? कहीं पूर्ववर्ती काल में ऐसा तो नहीं हुआ, जब संस्कृत का साहित्यिक भाषा के रूप में सर्वातिशायी गौरव पुनः प्रतिष्ठापन्न हुआ, तब जैन विद्वानों के मन में भी वैसा आकर्षण जगा हो कि वे भी अपने आदि-वाङ्मय का उसके साथ

---

१. यदिति श्रुतमस्माभिः पूर्वेषां सम्प्रदायतः ।
चतुर्दशापि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराभवन् ॥ ११३
प्रज्ञातिशयसाध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालतः ।
अधुनैकादशाङ्ग्यस्ति सुधर्मस्वामिभाषिता ॥ ११४

—प्रभावक चरित

लगाव सिद्ध करें, जिससे उसका माहात्म्य बढ़े। निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर, सहसा यह मान लेना समाधायक नहीं प्रतीत होता कि पूर्व-श्रुत संस्कृत-निबद्ध रहा।

पूर्वगत : एक परिचय

पूर्वगत के अन्तर्गत विपुल साहित्य है। उसके अन्तर्वर्ती चौदह पूर्व हैं :

१. उत्पाद पूर्व—समग्र द्रव्यों और पर्यायों के उत्पाद या उत्पत्ति को अधिकृत कर विश्लेषण किया गया है। इसका पद-परिमाण एक करोड़ है।

२. अग्रायणीय पूर्व—अग्र तथा अयन शब्दों के मेल से अग्रायणीय शब्द निष्पन्न हुआ है। अग्र का अर्थ[1] परिमाण और अयन का अर्थ गमन—परिच्छेद या विशदीकरण है। अर्थात् इस पूर्व में सब द्रव्यों, सब पर्यायों और सब जीवों के परिमाण का वर्णन है। पद-परिमाण छियानवें लाख है।

३. वीर्यप्रवाद पूर्व—सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य[2] का विवेचन है। पद-परिमाण सत्तर लाख है।

४. अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व—लोक में धर्मास्तिकाय आदि जो हैं और खर-विषाणादि जो नहीं हैं, उनका इसमें विवेचन है अथवा सभी वस्तुएँ स्वरूप की अपेक्षा से हैं तथा पर-रूप की अपेक्षा से नहीं हैं, इस सम्बन्ध

---

१. अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः। तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारि—इति भावार्थः। तथाहि तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते।

—अभिधान राजेन्द्र : चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२. अन्तरंग शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम।

में विवेचन है।[1] पद-परिमाण साठ लाख है।

५. ज्ञानप्रवाद पूर्व—मति आदि पांच प्रकार के ज्ञान का विस्तार-पूर्वक विश्लेषण है। पद-परिमाण एक कम एक करोड़ है।

६. सत्य-प्रवाद पूर्व—सत्य का अर्थ संयम का वचन[2] है। उनका विस्तार पूर्वक सूक्ष्मता से इसमें विवेचन है। पद-परिमाण छः अधिक एक करोड है।

७. आत्म-प्रवाद पूर्व—आत्मा या जीव का नय-भेद से अनेक प्रकार से वर्णन है। पद-परिमाण छब्बीस करोड है।

८. कर्म-प्रवाद पूर्व—ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश आदि भेदों की दृष्टि से विस्तृत वर्णन किया गया है। पद-परिमाण एक करोड़ छियासी हजार है।

९. प्रत्याख्यान पूर्व—भेद-प्रभेद सहित प्रत्याख्यान-त्याग का विवेचन है। पद-परिमाण चौरासी लाख है।

१०. विद्यानुप्रवाद पूर्व—अनेक अतिशय-चमत्कार-युक्त विद्याओं का, उनके अनुरूप साधनो का तथा सिद्धियों का वर्णन है। पद-परिमाण एक करोड़ दश लाख है।

११. अवन्ध्य पूर्व—वन्ध्य शब्द का अर्थ निष्फल होता है। निष्फल न होना अवन्ध्य है। इसमें निष्फल न जाने वाले शुभ-फलात्मक ज्ञान, तप, सयम आदि का तथा

---

१. यद् वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरशृंगादि तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादम्। अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्तिप्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२. सत्य संयमो वचन वा तत्सत्यसंयम वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपंच वदतीति सत्यप्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र; चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

अशुभ फलात्मक प्रमाद आदि का निरूपण है। पद-परिमाण छब्बीस करोड़ है।

१२. प्राणायु-प्रवाद पूर्व—प्राण अर्थात् पांच इन्द्रिय, मानस आदि तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास तथा आयु का भेद प्रभेद सहित विश्लेषण है। पद-परिमाण एक करोड़ छप्पन लाख है।

१३. क्रिया-प्रवाद पूर्व—कायिक आदि क्रियाओं का, संयमात्मक क्रियाओं का तथा स्वाच्छान्द क्रियाओं का विशाल-विपुल विवेचन है। पद-परिमाण नौ करोड़ है।

१४. लोक विन्दुसार पूर्व—लोक में या श्रुत-लोक में अक्षर के ऊपर लगे विन्दु की तरह जो सर्वोत्तम तथा सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि है, उस ज्ञान का वर्णन है।[1] पद-परिमाण साढ़े बारह करोड़ है।

चूलिकाएँ

चूलिकाएँ पूर्वों का पूरक साहित्य है। इन्हें परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग (दृष्टिवाद के भेदों) में उक्त और अनुक्त अर्थ की संग्राहिका ग्रन्थ-पद्धतियां[2] कहा गया है। दृष्टिवाद के इन भेदों में जिन-जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उन-उन विषयों में विवेचित महत्वपूर्ण अर्थों–तथ्यों तथा कतिपय अविवेचित अर्थों–प्रसंगों का इन चूलिकाओं में विवेचन किया गया है। इन चूलिकाओं का पूर्व वाङ्मय में विशेष महत्व है। ये चूलिकाएँ श्रुत रूपी पर्वत पर चोटियों की तरह सुशोभित हैं।

---

१. लोके जगति श्रुतलोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सार सर्वोत्तमं सर्वाक्षर-सन्निपातलब्धिहेतुत्वात् लोकबिन्दुसारम्।

—अभिधान राजेन्द्र ; चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२. यथा मेरो चूलाः, तत्र चूला इव दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थ-संग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः।

वही : पृ० २५१५

चूलिकाओं की संख्या

पूर्वगत के अन्तर्गत चतुर्दश पूर्वों में प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाएँ हैं। प्रश्न उपस्थित होता है, दृष्टिवाद के भेदों में पूर्वगत एक भेद है। उसमें चतुर्दश पूर्वों का समावेश है। उन पूर्वों में से चार–उत्पाद,अग्रायणीय,वीर्य-प्रवाद तथा अस्ति-नास्ति-प्रवाद पर चूलिकाएँ हैं। इस प्रकार इनका सम्बन्ध इन चार पूर्वों से होता है। परिकर्म,सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग में उक्त अनुक्त अर्थो-विषयों की संग्राहिका के रूप में भी इनका उल्लेख किया गया है। उसकी सगति किस प्रकार हो सकती है? विभाजन या व्यवस्थापन की दृष्टि से पूर्वों को दृष्टिवाद के भेदों के अन्तर्गत पूर्वगत में लिया गया है। वस्तुत उनमें समग्रश्रुत की अवतारणा है, अत परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग के विषय भी मौलिकतया उनमे अनुस्यूत हैं ही।

चार पूर्वों के साथ चूलिकाओ का जो सम्बन्ध है, उसका अभिप्राय है कि इन चार पूर्वों के सन्दर्भ में इन चूलिकाओ द्वारा दृष्टिवाद के सभी विषयो का, जो वहाँ विस्तृत या संक्षिप्त व्याख्यात हैं, कुछ कम व्याख्यात हैं, कुछ केवल सांकेतिक हैं, विशदरूपेण व्याख्यात नही हैं, संग्रह है। इसका आशय है कि चूलिकाओं मे दृष्टिवाद के सभी विषय सामान्यतः सांकेतिक हैं पर, विशेषत जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग मे विशदतया व्याख्यात नही हैं, उनका इनमें प्रस्तुतीकरण है। पहले पूर्व की चार, दूसरे की बारह, तीसरे की आठ तथा चौथे की दस चूलिकाएँ मानी गयी हैं। इस प्रकार कुल ४+१२+८+१०=३४ चूलिकाएं हैं।

वस्तु-वाङ्मय

चूलिकाओ के साथ-साथ 'वस्तु' संज्ञक एक और वाङ्मय है, जो पूर्वों का विश्लेषक या विवर्धक है। इसे पूर्वान्तर्गत अध्ययन-स्थानीय ग्रन्थो के रूप में माना गया है।[1] श्रोताओं की अपेक्षा से

1. पूर्वान्तर्गतेषु अध्ययनस्थानीयेषु ग्रन्थविशेषेषु।

—अभिधान राजेन्द्र, षष्ठ भाग, पृ० ८३९

सूक्ष्म जीवादि भाव-निरूपण में भी 'वस्तु' शब्द अभिहित है।[1] ऐसा भी माना जा जाता है, सब दृष्टियों की इसमें अवतारणा है।[2]

पूर्व-विच्छेद-काल

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार आचार्य स्थूलभद्र के देहावसान के साथ अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो गया जो उन्हें सूत्रात्मक रूप में प्राप्त थे, अर्थात्मक रूप में नहीं। तदनन्तर दश पूर्वों की परम्परा आर्य वज्र तक चलती रही। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आर्य वज्र भगवान महावीर के १८ वें पट्टधर थे। उनका देहावसान वीर-निर्वाणाब्द ५८४ में माना जाता हैं। आर्य वज्र के स्वर्गवास के साथ दशम पूर्व विच्छिन्न हो गया।

अनुयोग का अर्थ

अनुयोग शब्द अनु और योग के संयोग से बना है। अनु उपसर्ग यहाँ आनुकूल्यार्थवाचक है। सूत्र (जो संक्षिप्त होता है) का, अर्थ (जो विस्तीर्ण होता है) के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग कहा जाता है। आगमों के विश्लेषण तथा व्याख्यान के प्रसंग में प्रयुक्त विषय-विशेष का द्योतक है। अनुयोग चार भेदों में विभक्त किये गये हैं[3] १. चरणकरणानुयोग,[4] २. धर्मकथानुयोग, ३. गणितानुयोग तथा ४. द्रव्यानुयोग।[5] आगमों में इन चार अनुयोगों का विवेचन है। कहीं विस्तार से वर्णित हुए हैं और कहीं संक्षेप

---

१. श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि भावकथने।

२. सर्वदृष्टीनां तत्र समवतारस्तस्य जनके।

अभिधान राजेन्द्र : चतुर्थ भाग, पृ० २५१६

३. चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, जहकम्मं ते महड्ढीया॥

—अभिधान राजेन्द्र : प्रथम भाग, पृ० ३५६

४. चरण का अर्थ चर्या, आचार या चारित्र्य है। इस सम्बन्ध में जहां विवेचन—विश्लेषण हो, वह चरणकरणानुयोग है।

५. द्रव्यों के सन्दर्भ में सदसत्पर्यायालोचनात्मक विश्लेषण या विशद विवेचन जिसमें हो, वह द्रव्यानुयोग है।

से। आर्य वज्र तक आगमों में अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथकता नही थी। प्रत्येक सूत्र चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्यात होता था। आवश्यक निर्युक्ति में इस सम्बन्ध मे उल्लेख है : 'कालिक श्रुत (अनुयोगात्मक) व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे अर्थात् उनमे चरणकरणानुयोग प्रभृति अनुयोग चतुष्टय के रूप मे अविभक्तता थी। आर्य वज्र के अनन्तर कालिक श्रुत और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथकता (विभक्तता) की गयी।"[1]

आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में सूचित किया है : "तब तक साधु तीक्ष्णप्रज्ञ थे; अतः अनुयोगात्मक दृष्ट्या अविभक्तरूपेण व्याख्या का प्रचलन था—प्रत्येक सूत्र में चरणकरणानुयोग आदि का अविभागपूर्वक वर्तन था।"

निर्युक्ति मे जो केवल कालिक श्रुत का उल्लेख किया गया है, आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है : "मुख्यता की दृष्टि से यहां कालिक श्रुत का ग्रहण है, अन्यथा अनुयोगों का तो कालिक, उत्कालिक आदि में—सर्वत्र अविभाग[2] था ही।"

विशेषावश्यक भाष्य में इस सम्बन्ध मे विश्लेषण करते हुए कहा गया है : 'आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे, तब एक ही सूत्र की चारो अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।"

अनुयोग विभक्त कर दिए जाएँ, उनकी पृथक्करण कर छटनी कर दी जाए, तो वहां (उस सूत्र मे) वे चारो अनुयोग व्यवच्छिन्न नही हो जाएँगे ? भाष्यकार समाधान देते हैं कि "जहा किसी एक सूत्र की

---

१ जावंत अज्ज वइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअ सुअ दिट्ठिवाये अ॥

—आवश्यक निर्युक्ति - ७६३

२. आवदार्यवज्रा-आर्यवज्रस्वामिनो मुखो महामतयस्तावत्कालिकानुयोगस्य—कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्वं-प्रतिसूत्रं चरणकरणानुयोगादीनामविभागेन वर्तनमासीत्, तदा साधूनां तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहण प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथा सर्वानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्।

— आवश्यक निर्युक्ति : पृ० ३८३, प्रका० आगमोदय समिति,

व्याख्या चारों अनुयोगों में होती थी वहां चारों में से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या किये जाने का वहां आशय है।"

आर्य रक्षित द्वारा विभाजन

अनुयोग-विभाजन का कार्य आर्य रक्षित द्वारा सम्पादित हुआ। आर्य रक्षित वज्र के पट्टाधिकारी थे। वे महान् प्रभावक थे, देवेन्द्रों द्वारा अभिपूजित थे। उन्होंने युग की विषमता को देखते हुए कहां, कौनसा अनुयोग व्याख्येय है, इसका मुख्यता की दृष्टि से चार प्रकार से विभाजन किया—सूत्र-ग्रन्थों को चार अनुयोगों में बांटा।[1]

आर्य रक्षित ने शिष्य पुष्यमित्र—दुर्बलिका पुष्यमित्र को, जो मति,[2] मेधा[3] और धारण[4] आदि समग्र गुणों से युक्त थे, कष्ट से श्रुतार्णव को धारण करते देख कर, अतिशय ज्ञानोपयोग द्वारा यह जाना कि लोग क्षेत्र और काल के प्रभाव से भविष्य में मति, मेधा और धारणा से परिहीन होंगे। उन पर अनुग्रह[5] करते हुए उन्होंने कालिक आदि श्रुत के विभाग द्वारा अनुयोग[6] किये।

---

१. अपुहत्ते अणुओगे चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहताणुओगकरणे ते अत्थ तओ विवोच्छिन्ना॥
किं वइरेहिं पुहुत्तं कयमह तदणंतरेहिं भणियम्मि।
तदणंतरेहिं तदभिहिय गहियसुत्तत्थसरिहिं॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियज्जेहं।
जुगमासज्ज विभत्तो अणओगो तो कओ चउहा॥
— विशेषावश्यक भाष्य : २२८६-८८

२. मति=अवबोध-शक्ति
३. मेधा=पाठ-शक्ति
४. धारणा=अवधारणा शक्ति
५. ऐदंयुगीन पुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरण - द्रव्य - धर्मकथा - गणितानुयोग-भेदाच्चतुर्धा।
— सूत्रकृतांगटीका, उपोद्घात

६. नाऊण रक्खियज्जो मइमेहाधारणासमग्गा वि।
किच्छेण धरेमाणं सुयण्णवं पूसमित्तं ति॥
आइसयकओवओगो मइमेहाधारणाइपरिहीणे।
नाऊ गमेस्स पुरिसे खेत्तं कालाणुभावं च॥
साणुग्गहोणओगे वीसु कासी य सुयविभागे णं॥
—विशेषावश्यक भाष्य : २२८६.६१

विशेषावश्यक भाष्य के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने २५११वी गाथा की व्याख्या में प्रसंगोपात्ततया यह सूचित किया है कि "दुर्बलिका पुष्यमित्र के अतिरिक्त आर्य रक्षित के तीन मुख्य शिष्य और थे—विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। आचार्य रक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को आदेश दिया, वे विन्ध्य को पूर्वों की वाचना दें। दुर्बलिका पुष्यमित्र वाचना देने लगे। पर पुनरावृत्ति न कर पाने के कारण नवम पूर्व की उनको विस्मृति होने लगी। आचार्य रक्षित को उस समय लगा, ऐसे बुद्धिशाली व्यक्ति को भी यदि सूत्रार्थ विस्मृत होने लगे हैं, तब भविष्य मे और अधिक कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। उन्होने इस विवशता से प्रेरित होकर पृथक्-पृथक् अनुयोगों की व्यवस्था की।"

अनुयोगों के आधार पर सूत्रो का विभाजन निम्नांकित प्रकार से हुआ :[1]

१ प्रथम—चरणकरणानुयोग मे कालिक श्रुत-ग्यारह अंग, महाकल्प श्रुत तथा छेद सूत्र।
२. द्वितीय—धर्मकथानुयोग मे ऋषिभाषित।
३. तृतीय—गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
४. चतुर्थ—द्रव्यानुयोग मे दृष्टिवाद।

आगमों की प्रथम वाचना

अनेक स्रोतों से यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य मे बारह वर्षों का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। जनता अन्नादि खाद्य पदार्थों के अभाव में त्राहि-त्राहि करने लगी। भिक्षोपजीवी श्रमणो को भी

---

१. कालियसुयं च इसिभासियाइं तइया य सूरपन्नत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो॥
जं च महाकप्पसुयं जाणि य सेसाणि छेयसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥

विशेषावश्यक भाष्य : २२९४-९५

तब भिक्षा कहां से प्राप्त होती ? स्थविरावली में इस सम्बन्ध में उल्लेख है : "वह दुष्काल कालरात्रि के समान कराल था। साधु-संघ (भिक्षापूर्वक) जीवन-निर्वाह हेतु समुद्रतट पर चला गया। अधीत का गुणन-आवृत्ति न किये जाने के कारण साधुओं का श्रुत विस्मृत हो गया। अभ्यास न करते रहने से मेधावी जनों द्वारा किया गया अध्ययन भी नष्ट हो जाता है। दुष्काल का अन्त हुआ। सारा साधु-संघ पाटलिपुत्र में मिला। जिस-जिस को जो अंग, अध्ययन, उद्देशक आदि स्मरण थे, उन्हें संकलित किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं हो सका। संघ को चिन्ता हुई। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। वे नेपाल में साधना कर रहे थे। श्रीसंघ ने उन्हें बुलाने के लिए दो मुनि भेजे।"[१] आचार्य हरिभद्र के प्राकृत उपदेश पद[२] तथा आवश्यक चूर्णि में भी इसी तरह का वर्णन है।

नीरनिधि अथवा समुद्र-तट पर साधुओं के जाने के उल्लेख से श्रमण-संघ के दक्षिणी समुद्र-तट या दक्षिण देश जाने की कल्पना की

---

१. इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥
अगुण्यमानं तु तदा, साधूनां विस्मृतं श्रुतम्।
अनभ्यसनतो नश्यत्यधीतं धीमतामपि ॥
संघोऽथ पाटलिपुत्रे, दुष्कालान्तेऽखिलोऽमिलत्।
यदंगाध्ययनोद्देशाद्यासीद् यस्य तदादिकम् ॥
ततश्चैकादशाङ्गानि श्रीसंघोऽमेलयत्तदा।
दृष्टिवादनिमित्तं च, तस्थौ किंचिद् विचिन्तयन् ॥
नेपालदेशमार्गस्थं, भद्रबाहुं च पूर्विणम्।
ज्ञात्वा संघः समाह्वातुं ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥
—स्थविरावली चरितम् : ६५५–५९

२. जाओ अ तम्मि समये दुक्कालो दो य दसम वरिसाणि।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु ॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थे त्ति ॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइसंघडिउं।
तं सव्वं एक्कारस अंगाइं तहेव ठवियाइं ॥

आचार्य भद्रबाहु ने सब कुछ जान लिया। वे विद्या के द्वारा बाह्य चमत्कार दिखाने के पक्ष में नहीं थे; अतः इस घटना से वे स्थूलभद्र पर बहुत रुष्ट हुये। आगे वाचना देना बन्द कर दिया। स्थूलभद्र ने क्षमा मांगी। बहुत अनुनय- विनय किया। तब उन्होंने आगे के चार पूर्वों का ज्ञान केवल सूत्र रूप में दिया, अर्थ नहीं बतलाया। स्थूलभद्र को चतुर्दश पूर्वों का पाठ तो ज्ञात हो गया, पर, वे अर्थ दश ही पूर्वों का जान पाये; अतः उन्हें पाठ की दृष्टि से चतुर्दश पूर्वधर और अर्थ की दृष्टि से दश पूर्वधर कहा जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भद्रबाहु के अनन्तर चार पूर्वों का विच्छेद हो गया।

प्रथम वाचना के अध्यक्ष एवं निर्देशक

ग्यारह अंगों का संकलन पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। इसे प्रथम आगम-वाचना कहा जाता है। इसकी विधिवत् अध्यक्षता या नेतृत्व किसने किया, स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। आचार्य भद्रबाहु विशिष्ट योग साधना के सन्दर्भ में नेपाल गये हुये थे; अतः उनका नेतृत्व तो सम्भव था ही नहीं। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र की ही सब दृष्टियों से वरीयता अभिमत है। यह भी हो सकता है, आचार्य भद्रबाहु जब नेपाल जाने लगे हों, उन्होंने संघ का अधिनायकत्व स्थूलभद्र को सौंप दिया हो। अधिकतम यही सम्भावना है, प्रथम आगम-वाचना स्थूलभद्र के नेतृत्व में हुई हो।

द्वितीय वाचना—माथुरी वाचना

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आगमों की प्रथम वाचना वीर-निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् हुई। उसमें ग्यारह अंग संकलित हुए। गुरु-शिष्य क्रम से वे शताब्दियों तक चालू रहे, पर, फिर वीर-निर्वाण के लगभग पौने—सात शताब्दियों के पश्चात् ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि आगमों के पुनः संकलन का उद्योग करना पड़ा।

कहा जाता है, तब बारह वर्षों का भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। लोक-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। लोगों को खाने के लाले पड़ गये। श्रमणों पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। खान-पान, रहन-सहन,

आदि की अनुकूलता मिट गयी। श्रामण्य में स्थिर रह पाना अत्यधिक कठिन हो गया। अनेक श्रमण काल-कवलित हो गये। नन्दी चूर्णि में इस सम्बन्ध मे उल्लेख है—ग्रहण, गुणन, अनुप्रेक्षा आदि के अभाव में श्रुत नष्ट हो गया। कुछ का कहना है, श्रुत नष्ट नही हुआ, अधिकांश श्रुत-वेत्ता नष्ट हो गये। हार्द लगभग समान ही है। किसी भी प्रकार से हो, श्रुत-शृंखला व्याहत हो गयी।

दुर्भिक्ष का समय बीता। समाज की स्थिति सुधरी। जो श्रमण बच पाये थे, उन्हें चिन्ता हुई कि श्रुत का सरक्षण कैसे किया जाये? उस समय आचार्य स्कन्दिल युग-प्रधान थे। उनका युग-प्रधानत्व-काल इतिहास-वेत्ताओ के अनुसार वीर-निर्वाण ८२७-८४० माना गया है। नन्दी स्थविरावली में आचार्य स्कन्दिल का उलेल्ख भगवान् महावीर के अनन्तर चौवीसवें स्थान पर है। नन्दीकार ने उनकी प्रशस्ति मे कहा है कि "आज जो अनुयोग-शास्त्रीय अर्थ-परम्परा भारत मे प्रवृत्त है, वह उन्हीं की देन है। वे परम यशस्वी थे। नगर-नगर मे उनकी कीर्ति परिव्याप्त थी।"

नन्दी सूत्र देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा विरचित माना जाता है। वे अन्तिम आगम-वाचना (तृतीय वाचना) के अध्यक्ष थे। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आचार्य स्कन्दिल के अनुयोग के भारत में प्रवृत्त रहने का जो उल्लेख किया है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने नेतृत्व में समायोजित वाचना में यद्यपि पिछली दोनो (माथुरी और वालभी) वाचनाओं को दृष्टिगत रखा था, फिर भी आचार्य स्कन्दिल की (माथुरी) वाचना को मुख्य आधार-रूप में स्वीकार किया था; अत. उनके प्रति आदर व्यक्त करने की दृष्टि से उनका यह कथन स्वाभाविक है।

मथुरा उस समय उत्तर भारत में जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। वहाँ आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे आगम-वाचना का आयोजन हुआ। आगम-वेत्ता मुनि दूर-दूर से आये। जिन्हें जैसा स्मरण था, सब समन्वित करते हुए कालिक श्रुत संकलित किया गया। उस समय आचार्य स्कन्दिल ही एक मात्र अनुयोगधर थे। उन्होंने उपस्थित श्रमणों को अनुयोग की वाचना दी। यह वाचना मथुरा में दी गयी

थी; अतः 'माथुरी वाचना' कहलाई। इसका समय वही अर्थात् परि-निर्वाणाब्द ८२७ और ८४० के मध्य होना चाहिये, जो आचार्य स्कन्दिल का युगप्रधान-काल है।

वालभी वाचना

लगभग माथुरी वाचना के समय में ही वलभी–सौराष्ट्र में नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में एक मुनि-सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसका उद्देश्य विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित करना था। उपस्थित मुनियों की स्मृति के आधार पर श्रुतोद्धार किया गया। इस प्रकार जितना उपलब्ध हो सका, वह सारा वाङ्मय सुव्यवस्थित किया गया। नागार्जुन सूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी। आचार्य नागार्जुन सूरि ने इस वाचना की अध्यक्षता या नेतृत्व किया। उनकी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका थी; यह नागार्जुनीय वाचना कहलाती है। वलभी की पहली वाचना के रूप में इसकी प्रसिद्धि है।

एक ही समय में दो वाचनाएँ ?

कहा जाता है, उक्त दोनों वाचनाओं का समय लगभग एक ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ही समय में दो भिन्न स्थानों पर वाचनाएँ क्यों आयोजित की गयीं? वलभी में आयोजित वाचना में जो मुनि एकत्र हुए थे, वे मथुरा भी जा सकते थे। इसके कई कारण हो सकते हैं: १. उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण-संघ में स्यात् किन्हीं कारणों से मतैक्य नहीं हो। इसलिए वलभी में सम्मिलित होने वाले मुनि मथुरा में सम्मिलित नहीं हुए हों। उनका उस (मथुरा में आयोजित) वाचना को समर्थन न रहा हो।

२. मथुरा में होने वाली वाचना की गतिविधि, कार्यक्रम, पद्धति तथा नेतृत्व आदि से पश्चिम का श्रमण-संघ सहमत न रहा हो।

३. माथुरी वाचना के समाप्त हो जाने के पश्चात् यह वाचना आयोजित की गयी हो। माथुरी वाचना में हुआ कार्य पश्चिमी श्रमण संघ को पूर्ण सन्तोषजनक न लगा हो; अतः आगम एवं तदुप-

जीवी वाङ्मय का उनमें भी उत्कृष्ट गवलन तथा सम्पादन करने का विशेष उत्साह उनमें रहा हो और उन्होंने इस वाचना की आयोजना की हो। फलतः इसमें कालिक श्रुत के अतिरिक्त अनेक प्रकरण-ग्रन्थ भी संकलित किये गये, विस्तृत पाठ वाले स्थलों को अर्थ-संगति पूर्वक व्यवस्थित किया गया।

इस प्रकार की और भी कल्पनाएं की जा सकती हैं। पर इतना तो मानना होगा कि कोई-न-कोई कारण ऐसा रहा है, जिससे समसामयिकता या समय के थोड़े से व्यवधान से ये वाचनाएँ आयोजित की गयी। कहा जाता है, इन वाचनाओं में वाङ्मय लेख-बद्ध भी किया गया।

दोनों वाचनाओं मे सकलित साहित्य मे अनेक स्थलों पर पाठान्तर या वाचना-भेद भी दृष्टिगत होते हैं। ग्रन्थ-सकलन मे भी कुछ भेद रहा है। ज्योतिष्करण्डक की टीका[1] मे उल्लेख है कि अनुयोगद्वार आदि सूत्रों का सकलन माथुरी वाचना के आधार पर किया गया। ज्योतिष्करण्डक आदि ग्रन्थ वालभी वाचना से गृहीत है। उपर्युक्त दोनों वाचनाओं की सम्पन्नता के अनन्तर आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलना नहीं हो सका। इसलिए दोनों वाचनाओं मे सकलित सूत्रों मे यत्र-तत्र जो पाठ-भेद चल रहा था, उसका समाधान नहीं हो पाया और वह एक प्रकार से स्थायी बन गया।

तृतीय वाचना

उपर्युक्त दोनों वाचनाओं के लगभग डेढ शताब्दी पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाणानन्तर ९८०वें या ९९३वें वर्ष मे वलभी में फिर उस युग के महान् आचार्य और विद्वान् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में तीसरी वाचना आयोजित हुई। इसे वलभी की दूसरी

---

१. पृ. ४१

वाचना[1] भी कहा जाता है।

श्रुत-स्रोत की सतत प्रवहणशीलता के अवरुद्ध होने की कुछ स्थितियां पैदा हुईं, जिससे जैन संघ चिन्तित हुआ। स्थितियों का स्पष्ट रूप क्या था, कुछ नहीं कहा जा सकता। पर, जो भी हो, इससे यह प्रतीत होता है कि श्रुत के संरक्षण के हेतु जैन संघ विशेष चिन्तित तथा प्रयत्नशील था। पिछली डेढ शताब्दी के अन्तर्गत प्रतिकूल समय तथा परिस्थितियों के कारण श्रुत-वाङ्मय का बहुत ह्रास हो चुका होगा। अनेक पाठान्तर तथा वाचना-भेद आदि का प्रचलन था ही; अतः श्रुत के पुनः संकलन और सम्पादन की आवश्यकता अनुभूत किया जाना स्वाभाविक था। उसी का परिणाम यह वाचना थी। पाठान्तरों, वाचना-भेदों का समन्वय, पाठ की एकरूपता का निर्धारण, अब तक असंकलित सामग्री का संकलन आदि इस वाचना के मुख्य लक्ष्य थे। सूत्र-पाठ के स्थिरीकरण या स्थायित्व के लिए यह सब अपेक्षित था। वस्तुतः यह बहुत महत्वपूर्ण वाचना थी।

भारत के अनेक प्रदेशों से आगमज्ञ, स्मरण-शक्ति के धनी मुनिवृन्द आये। पिछली माथुरी और वालभी वाचना के पाठान्तरों तथा वाचना-भेदों को सामने रखते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण से

---

१. पिछली दोनों वाचनाओं के साथ जिस प्रकार दुर्भिक्ष की घटना जुड़ी है, इस वाचना के साथ भी वैसा ही है। समाचारी शतक में इस सम्बन्ध में उल्लेख है कि बारह वर्ष के भयावह दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु दिवंगत हो गये। बहुत-सा श्रुत विच्छिन्न हो गया, तब भव्य लोगों के उपकार तथा श्रुत की अभिव्यक्ति के हेतु श्रीसंघ के अनुरोध से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने (९८० वीर निर्वाणाब्द) दुष्काल में जो बच सके, उन सब साधुओं को वलभी में बुलाया। विच्छिन्न, अवशिष्ट, न्यून, अधिक, खण्डित, अखण्डित आगमालापक उनसे सुन बुद्धिपूर्वक अनुक्रम से उन्हें संकलित कर पुस्तकारूढ़ किया।

विचार किया गया। समागत विद्वानों में जिन-जिन को जैसा पाठ स्मरण था, उससे तुलना की गयी। इस प्रकार बहुलांशतया एक समन्वित पाठ का निर्धारण किया जा सका। प्रयत्न करने पर भी जिन पाठान्तरों का समन्वय नहीं हो सका, उन्हें टीकाओं, चूर्णियों आदि में संगृहीत किया गया। मूल और टीकाओं में इस ओर संकेत[1] किया गया है। जो कतिपय प्रकीर्णक केवल एक ही वाचना में प्राप्त थे, उन्हें ज्यों-का-त्यों रख लिया गया और प्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया।

पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं में संकलित वाङ्मय के अतिरिक्त जो प्रकरण-ग्रन्थ विद्यमान थे, उन्हें भी संकलित किया गया। यह सारा वाङ्मय लिपिबद्ध किया गया। इस वाचना मे यद्यपि संकलन, सम्पादन आदि सारा कार्य तुलनात्मक एव समन्वयात्मक शैली से हुआ, पर, यह सब मुख्य आधार माथुरी वाचना को मान कर किया गया। आज अंगोपांगादि श्रुत-वाङ्मय जो उपलब्ध है, वह देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न वाचना का सस्करणरूप है।

अंग-प्रविष्ट तथा अंग-बाह्य

आगम-वाङ्मय को प्रणयन या प्रणेता की दृष्टि से दो भागों मे बाटा जा सकता है. १. अंग-प्रविष्ट तथा २. अंग-बाह्य। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य मे अग अर्थात् अंग-प्रविष्ट तथा अनंग अर्थात् अंग-बाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है : "गणधरकृत व स्थविरकृत, आदेशसृष्ट (अर्थात् तीर्थंकर प्ररूपित त्रिपदी-जनित) व उन्मुक्त व्याकरण-प्रसूत (अर्थात् विश्लेषण-प्रतिपादनजनित) ध्रुव नियत व चल—अनियत, इन द्विविध विशेषताओं से युक्त वाङ्मय अंग-प्रविष्ट तथा अंग-बाह्य नाम से अभिहित है।"[2] गणधरकृत, आदेशजनित तथा ध्रुव; ये

१. वाचनान्तरे तु पुनः, नागार्जुनीयास्तु एव पठन्ति' इत्यादि द्वारा सकेतित।

२. गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुवचलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५५०

विशेषण अंग प्रविष्ट से सम्बद्ध हैं तथा स्थविरकृत, उन्मुक्त व्याकरण प्रसूत और चल; ये विशेषण अंग बाह्य के लिये हैं।

मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्या

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भाष्य की इस गाथा का विश्लेषण करते हुये लिखा है : गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत कहा जाता है तथा भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविर—वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित आवश्यक निर्युक्ति आदि श्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। गणधर द्वारा तीन बार पूछे जाने पर तीर्थंकर द्वारा उद्गीर्ण उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य मूलक त्रिपदी के आधार पर निष्पादित द्वादशांग श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत है तथा अर्थ-विश्लेषण या प्रतिपादन के सन्दर्भ में निष्पन्न आवश्यक आदि श्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। ध्रुव या नियत श्रुत अर्थात् सभी तीर्थंकरो के तीर्थ में अवश्य होने वाला द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत है तथा जो सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य हो ही, ऐसा नहीं है, वह तन्दुलवैचारिक आदि प्रकरण रूप श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।

आ० मलयगिरि की व्याख्या

नन्दी सूत्र की टीका में टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य श्रुत की व्याख्या करते हुये लिखा है "सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि-सम्पन्न गणधर रचित मूलभूत सूत्र, जो सर्वथा नियत हैं, ऐसे आचारांगादि अंगप्रविष्ट श्रुत हैं। उनके अतिरिक्त अन्य श्रुत—स्थविरों द्वारा रचित श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।" अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है : (१) सामायिक आदि छः प्रकार का आवश्यक तथा (२) तद्व्यतिरिक्त। आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है : (१) कालिक एवं (२) उत्कालिक। जो श्रुत रात तथा दिन के प्रथम प्रहर तथा अन्तिम प्रहर में ही पढ़ा जाता है, वह कालिक[1] श्रुत है तथा जो काल वेला को वर्जित कर सब समय पढ़

---

१. जिसके लिये काल-विशेष में पढ़े जाने की नियामकता नहीं है।

जाता है, वह उत्कालिक श्रुत है। वह दशवैकालिक आदि अनेक प्रकार का है। उनमे से कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :

१ कल्प-श्रुत, जो स्थविरादि कल्प का प्रतिपादन करता है। वह दो प्रकार का है—एक चुल्लकल्प श्रुत है,जो अल्प ग्रन्थ तथा अल्प अर्थ वाला है। दूसरा महाकल्प श्रुत है, जो महाग्रन्थ और महा अर्थ वाला है। २ प्रज्ञापना, जो जीव आदि पदार्थों की प्ररूपणा करता है। ३ प्रमादाप्रमाद अध्ययन, जो प्रमाद-अप्रमाद के स्वरूप का भेद तथा विपाक का ज्ञापन करता है। ४ नन्दी, ५ अनुयोगद्वार, ६ देवेन्द्रस्तव, ७. तन्दुलवैचारिक, ८ चन्द्रावेध्यक, ६. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. पोरिषीमण्डल, ११. मण्डल - प्रवेश, १२ विद्याचारण, १३ गणिविद्या, १४ ध्यानविभक्ति, १५ मरण-विभक्ति, १६ आत्म-विशुद्धि, १७ वीतराग-श्रुत, १८. सलेखना श्रुत, १६. विहार-कल्प, २०. चरणविधि, २१ आतुर प्रत्याख्यान, २२ महाप्रत्याख्यान आदि। ये उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत हैं।

कालिक श्रुत अनेक प्रकार का है १ उत्तराध्ययन, २ दशा-कल्प, ३ व्यवहार, ४ वृहत्कल्प ५. निशीथ, ६ महानिशीथ, ७. ऋषिभाषित ग्रन्थ, ८ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, ६ द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, १० चन्द्र-प्रज्ञप्ति, ११ क्षुल्लकविमान-प्रविभक्ति, १२. महाविमान प्रविभक्ति, १३. अंगचूलिका, १४ वर्गचूलिका, १५ विवाह-चूलिका, १६. अरुणोपपात, १७. वरुणोपपात, १८ गरुडोपपात, १६ धरणो-पपात, २० वैश्रमणोपपात, २१ वेलंधरोपपात, २२ देवेन्द्रोपपात, २३. उत्थान-श्रुत, २४. समुत्थान-श्रुत, २५. नाग-परिज्ञा, २६. निरयावलिया, २७. कल्पिका, २८ कल्पावतंसिका, २६ पुष्पिका, ३० पुष्पचूला, ३१. वृष्णिदशा, इत्यादि चौरासी हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ के समय मे थे। सख्यात हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ बीच के बाईस तीर्थंकरो के समय तथा चौदह हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ भगवान् महावीर के समय मे थे। जिस तीर्थंकर के औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से युक्त जितने शिष्य थे,

उनके उतने हजार ग्रन्थ थे। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही होते थे। यह कालिक, उत्कालिक श्रुत अंगवाह्य कहा जाता है।

अंग-प्रविष्ट : अंग-वाह्य : सम्यक्ता

जैन दर्शन का तत्व-ज्ञान जहाँ सूक्ष्मता, गम्भीरता, विशदता आदि के लिए प्रसिद्ध है, वहां उदारता के लिए भी उसका विश्व-वाङ्मय में अनुपम स्थान है। वहां किसी वस्तु का महत्व केवल उसके नाम पर आधृत नहीं है, वह उसके यथावत् प्रयोग तथा फल पर टिका है। अंग-प्रविष्ट और अंग-वाह्य के सन्दर्भ में जिन शास्त्रों की चर्चा की गयी है, वे जैन परम्परा के मान्य ग्रन्थ हैं। उनके प्रति जैनों का बड़ा आदर है। इन ग्रन्थों की आदेयता और महनीयता इनको ग्रहण करने वाले व्यक्तित्व पर अवस्थित है। यद्यपि ये शास्त्र अपने स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् श्रुत हैं, पर गृहीता की दृष्टि से इन पर इस प्रकार विचार करना होगा—यदि इनका गृहीता सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न या सम्यक्त्वी है, तो ये शास्त्र उसके लिए सम्यक् श्रुत हैं और यदि इनका गृहीता मिथ्यादृष्टि-सम्पृक्त-मिथ्यात्वी है, तो ये मान्य ग्रन्थ भी उसके लिए मिथ्या-श्रुत की कोटि में चले जाते हैं। इतना ही नहीं, जो अजैन शास्त्र, जिन्हें सामान्यतः असम्यक् (मिथ्या) श्रुत कहा जाता है, यदि सम्यक्त्वी द्वारा परिगृहीत होते हैं, तो वे उसके लिए सम्यक् श्रुत की कोटि में आ जाते हैं। इस तथ्य का विशेषावश्यक भाष्यकार ने तथा आवश्यक नियुंक्ति के विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने वड़े स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है।[1]

---

१. (क) अंगाणगं पविट्ठ सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छुयं।
आसज्ज उ सामित्तं लोइय-लोउत्तरे भयणा॥
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५३७

(ख) —सम्यक्श्रुतम्—पुराणरामायणभारतादि, सर्वमेव वा दर्शन-परिग्रहविशेषात् सम्यक्श्रुतमितरद् वा, तथाहि—सम्यग्दृष्टां सर्वमपि श्रुत सम्यक्श्रुतम्, हेयोपादेयशास्त्राणां हेयोपादेयतया परिज्ञानात्, मिथ्यादृष्टो सर्वं मिथ्याश्रुतम्, विपर्ययात्।
—आवश्यक नियुंक्तिः पृ० ४७, प्रका० आगमोदय समिति बम्बई

गृहीता का वैशिष्ट्य

प्रत्येक पदार्थ अस्तित्व-धर्मा है। वह अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित है, अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। उसके साथ सयोजित होने वाले अच्छे, बुरे विशेषण पर-सापेक्ष हैं। अर्थात् दूसरो—अपने भिन्न-भिन्न प्रयोक्ताओ या गृहीताओ की अपेक्षा से उसमें सम्यक् या असम्यक् व्यवहार होना है। प्रयोक्ता या गृहीता द्वारा अपनी आस्था या विश्वास के अनुरूप प्रयोग होता है। यदि प्रयोक्ता का मानस विकृत है, उसकी आस्था विकृत है, विचार दूषित है, तो वह अच्छे से अच्छे कथित प्रसग का भी जघन्यतम उपयोग कर सकता है, क्योकि वह उसके यथार्थ स्वरूप का अकन नही कर पाता। जिसे बुरा कहा जाता है, उसके गृहीता का विवेक उद्बुद्ध और आस्था सत्परायण है तो उसके द्वारा उसका जो उपयोग होता है, उससे अच्छाइयाँ ही फलित होती हैं, क्योकि उसकी बुद्धि सद्ग्राहिणी है।

जैन दर्शन का तत्व-चिन्तन इसी आदर्श पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि अगप्रविष्ट श्रुत और अगबाह्य श्रुत जैसे आर्ष वाङ्मय को मिथ्या श्रुत तक कहने मे हिचकिचाहट नही होती, यदि वे मिथ्यात्वी द्वारा परिगृहीत हैं। वास्तविकता यह है, जिसका दर्शन—विश्वास मिथ्यात्व पर टिका है, वह उसी के अनुरूप उसका उपयोग करेगा अर्थात् उसके द्वारा किया गया उपयोग मिथ्यात्व-सम्वलित होगा। उससे जीवन की पवित्रता नही सधेगी। मिथ्यात्व-ग्रस्त व्यक्ति के कार्यकलाप आत्म-साधक न हो कर अनात्मपरक होते हैं। इसलिये सम्यक् श्रुत भी उसके लिये मिथ्या श्रुत है। यही अपेक्षा सम्यक्दृष्टि द्वारा गृहीत मिथ्या श्रुत के सम्बन्ध मे होती है। सम्यक्त्वी के कार्य-कलाप सम्यक् या आत्म-साधक, स्वपरिष्कारक तथा बुद्धि-मूलक होते हैं। वह किसी भी शास्त्र का उपयोग अपने हित मे कर लेता है। यह ठीक ही है, ऐसे पुरुष के लिये मिथ्या श्रुत भी सम्यक् श्रुत का काम करता है। जैन-तत्व-चिन्तन का यह वह वरेण्य पक्ष है, जो प्रत्येक आत्म-साधक के लिए समाधान-कारक है।

अंग प्रविष्ट तथा अंग बाह्य के रूप में जिन आगम-ग्रन्थों की चर्चा की गयी है, उनमें कुछ उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें कुछ निर्युक्तियों को सन्निहित कर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगम-ग्रन्थों को प्रमाण-भूत मानता है। वे अंग, उपांग, छेद तथा मूल आदि के रूप में विभक्त हैं।

पैंतालीस आगम

अंग-संज्ञा क्यों ?

अर्थ रूप में (त्रि पद्यात्मकतया) तीर्थंकर प्ररूपित तथा गणधर ग्रथित वाङ्मय अंग वाङ्मय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे अंग नाम से क्यों अभिहित किया गया? यह प्रश्न स्वाभाविक है। उत्तर भी स्पष्ट है। श्रुत की पुरुष के रूप में कल्पना की गयी। जिस प्रकार एक पुरुष के अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुत-पुरुष के अंगों के रूप में बारह आगमों को स्वीकार किया गया। कहा गया है : "श्रुत-पुरुष के पादद्वय, जंघाद्वय, ऊरुद्वय, गात्र द्वय—देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग, बाहुद्वय, ग्रीवा तथा मस्तक (पाद २ + जंघा २ + ऊरु २ + गात्रार्द्ध २ + बाहु २ + ग्रीवा १ + मस्तक १ = १२), ये बारह अंग हैं। इनमें जो प्रविष्ट हैं, अंगत्वेन अवस्थित हैं, वे आगम श्रुत-पुरुष के अंग हैं।"[1] बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न हो गया। इस समय ग्यारह अंग प्राप्त हैं।

१. आयारांग (आचारांग)

आचारांग में श्रमण के आचार का वर्णन किया गया है। यह दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। प्रत्येक श्रुत-स्कन्ध का अध्ययनों तथा

---

१. इह पुरुषस्य द्वादश अंगानि भवन्ति। तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जंघे, द्वे ऊरुणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च एवं श्रुतपुरुषस्यापि परमपुरुषस्या-चारादीनि द्वादशांगानि क्रमेण वेदितव्यानि। तथा चोक्तम्—

पायदुगं जंघोरु गायदुगद्धं तु दो य बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारस अंगेसु य पविट्ठो।

श्रुतपुरुषस्यांगेषु प्रविष्टमंगप्रविष्टम्। अंगभावेन व्यवस्थिते श्रुत भेदे""।

—अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ३८

प्रत्येक अध्ययन का उद्देशों या चूलिकाओं में विभाजन है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध में नौ अध्ययन एवं चौवालीस उद्देश हैं। द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में तीन चूलिकाएँ हैं, जो १६ अध्ययनों में विभाजित हैं। भाषा, रचना-शैली, विषय-निरूपण आदि की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रुत-स्कन्ध बहुत प्राचीन है। अधिकांशतया यह गद्य में रचित है। बीच बीच में यत्र-तत्र पद्यों का भी प्रयोग हुआ है। अर्द्ध-मागधी प्राकृत के भाषात्मक अध्ययन तथा उसके स्वरूप के अवबोध के लिए यह रचना बहुत महत्वपूर्ण है।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा निर्दिष्ट किया गया है, पर, उसका पाठ प्राप्त नहीं है। इसे व्युछिन्न माना जाता है। कहा जाता है, इसमें कतिपय चमत्कारी विद्याओं का समावेश था। लिपि-बद्ध हो जाने से अधिकारी, अनधिकारी; सब के लिए वे सुलभ हो जाती हैं। अनधिकारी या अपात्र के पास उनका जाना ठीक न समझ श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगम-लेखन के समय इस अध्ययन को छोड़ दिया। यह एक कल्पना है। वस्तुस्थिति क्या रही, कुछ कहा नहीं जा सकता। हो सकता है, बाद में इस अध्ययन का विच्छेद हो गया हो।

नवम उपधान अध्ययन में भगवान् महावीर की तपस्या का मार्मिक और रोमांचकारी वर्णन वहां उनके लाढ़ (वर्द्धवान जिला), वज्रभूमि (मानभूम और सिंहभूम जिले) तथा शुभ्र भूमि (कोडरमा, हजारीबाग का क्षेत्र) में विहार-पर्यटन तथा अज्ञ जनों द्वारा किये गये विविध प्रकार के घोर उपसर्ग-कष्ट सहन करने का उल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के घोर तपस्वी तथा अप्रतिम कष्ट सहिष्णु जीवन का जो लेखा-जोखा इस अध्ययन में मिलता है, वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध : रचना : कलेवर

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में श्रमण के लिये निर्देशित व्रतों व तत्सम्बन्धी भावनाओं का स्वरूप, भिक्षु-चर्या, आहार-पानशुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार-चर्या, चातुर्मास्य-प्रवास, भाषा, वस्त्र, पात्र

आदि उपकरण, मल-मूत्र-विसर्जन आदि के सम्बन्ध में नियम-उपनियम आदि का विवेचन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि महाकल्पश्रुत नामक आचारांग के निशीथाध्ययन की रचना प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु के बीसवें प्राभृत के आधार पर हुई है। आचारांग वास्तव में द्वादशांगात्मक वाङ्मय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। "अंगाणं किं सारो ? आयारो"[1] जैसे कथन इसके परिचायक हैं।

दर्शन

आचारांग का आरम्भ दर्शन के मूलभूत प्रश्न से होता है। वह मूलभूत प्रश्न है, आत्मा या अस्तित्ववाद। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में ही अस्तित्ववाद की अदिप्त, सुदृढ़ एवं मनोग्राही स्थापना की गई है। पाठक मूलस्पर्शी आनन्द की अनुभूति पा सकें तथा 'तन्दुल न्यायेन' समग्र आचारांग की भाव-भाषा का आभास भी पा सकें, अतः वह मौलिक प्रसंग यथावत् यहां समुद्धृत किया जा रहा है।

"सुयं मे आउसं ! ते णं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसि नो सण्णा भवइ, तंजहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।"

आयुष्मन् ! मैंने सुना है। भगवान ने यह कहा—इस जगत् में कुछ मनुष्यों को यह संज्ञा नहीं होती, जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूं,

1. आचारांग निर्युक्ति, २६१

अथवा दक्षिण दिशा से आया हूं, अथवा पश्चिम दिशा से आया हूं, अथवा उत्तर दिशा से आया हूं, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं, अथवा अधोदिशा से आया हूं, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूं, अथवा अनुदिशा से आया हूं।

"एवमेगेसिं णो णातं भवति—अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"

इसी प्रकार कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात नहीं होता—मेरी आत्मा पुनर्जन्म नहीं लेने वाली है, अथवा मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। मैं पिछले जन्म में कौन था ? मैं यहां से च्युत होकर अगले जन्म में क्या होऊंगा ?

"सेज्जं पुण जाणेज्जा—सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, तं जहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ या आगओ अहमंसि।"

कोई मनुष्य १. पूर्व जन्म की स्मृति से, २. पर (प्रत्यक्ष ज्ञानी) के निरूपण से, अथवा ३. अन्य (प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा श्रुत व्यक्ति) के पास सुनकर, यह जान लेता है, जैसे मैं पूर्व दिशा से आया हूं, अथवा दक्षिण दिशा से आया हूं, अथवा पश्चिम दिशा से आया हूं, अथवा उत्तर दिशा से आया हूं, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं, अथवा अधो दिशा से आया हूं, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूं, अथवा अनुदिशा से आया हूं।

"एवमेगेसिं जं णातं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं।"

इसी प्रकार कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात होता है—मेरी श्रात्मा पुनर्जन्म लेने वाली है, जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करती है, जो सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं से आकर अनुसचरण करता है, वह मैं हूं।

"से भ्रायावाई, लोगवाई, कम्मवाई, किरियावाई।"

जो अनुसंचरण को जान लेता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

भगवान् महावीर का अस्तित्ववाद मनुष्य व अन्य जगम प्राणियों तक सीमित नही था। उसमे स्थावर प्राणियों के अस्तित्व को भी उतनी ही दृढ़ता से स्वीकारा गया है, जितना जगम प्राणियों के अस्तित्व को। यहां पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवन की भी मुक्त चर्चा है, जो लगभग जैन दर्शन की अपनी मौलिक मान्यता ही मानी जा सकती है। इसी आचारांग के वनस्पति निरूपण में कहा गया है :

"से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।"

वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल, अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।

शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।

"अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।"

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पति को होती है।

"अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।"

मनुष्य को मूच्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे जो कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।

"से बेमि—इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं ।
इमंपि वुड्ढिधम्मयं, एयंपि वुड्ढिधम्मयं ।
इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं ।
इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति ।
इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं ।
इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं ।
इमंपि असासयं, एयंपि असासयं ।
इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं ।
इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ।"

मैं कहता हूं—मनुष्य भी जन्मता है, वनस्पति भी जन्मती है। मनुष्य भी बढ़ता है, वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य भी चैतन्ययुक्त है, वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है। मनुष्य भी छिन्न होने पर म्लान होता है, वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है। मनुष्य भी आहार करता है, वनस्पति भी आहार करती है। मनष्य भी अनित्य है, वनस्पति भी अनित्य है। मनुष्य भी अशाश्वत है वनस्पति भी अशाश्वत है। मनुष्य भी उपचित और अपचित होता है, वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है। मनुष्य भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है।

व्याख्या-साहित्य

आचारांग पर आचार्य भद्रबाहु द्वारा नियुक्ति, श्री जिनदास गणी द्वारा चूर्णि, श्री शीलांकाचार्य द्वारा टीका तथा श्री जिनहंससूरि द्वारा दीपिका की रचना की गयी।

जैन वाङ्मय के प्रख्यात अध्येता डा० हर्मन जेकोबी ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा इसकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखी। प्रो० एफ० मैक्समुलर द्वारा सम्पादित 'Sacred B oks of the Eas' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत २२ वें भाग में उसका आक्सफोर्ड से प्रकाशन हुआ। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० वाल्टर शूब्रिग ने सम्पादन किया तथा सन् १९१० में लिप्जग से इसका प्रकाशन किया। आचार्य भद्रबाहुकृत नियुक्ति

तथा आचार्य शीलांक रचित टीका के साथ सन् १६२५ में आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा इसका प्रकाशन हुआ।

२ सूयगडंग (सूत्रकृतांग)

सूत्रकृतांग के नाम

सूत्रकृतांग के लिए सूयगड, सुत्तकड तथा सूयागड, इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। सूयगड या सुत्तकड का संस्कृत-रूप सूत्रकृत है। इसकी शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार है —अर्थरूपतया तीर्थङ्करों से सूत्र का उद्‌भव हुआ। उससे गणधरों द्वारा किया गया या निबद्ध किया गया ग्रन्थ। इस प्रकार सूत्रकृत शब्द का फलित होता है। अथवा सूत्र के अनुसार जिसमें तत्त्वावबोध कराया गया हो, वह सूत्रकृत है। सूयागड का संस्कृत रूप सूत्राकृत है। इसका अर्थ है—स्व और पर समय—सिद्धान्त का जिसमें सूचन किया गया हो,वह सूचाकृत या सूयागड है।[1]

सूत्र का अर्थ भगवद्‌भाषित और कृत का अर्थ उसके आधार पर गणधरों द्वारा किया गया या रचा गया, इस परिधि में तो समस्त द्वादशांगी ही समाहित हो जाती है, अतः सूत्रकृतांग की ही ऐसी कोई विशेषता नहीं है। स्व—अपने, पर—दूसरों के समय—सिद्धान्तों या तात्त्विक मान्यताओं के विवेचन का जो उल्लेख किया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। वैसा विवेचन इसी आगम में है, अन्य किसी में नहीं।

सूत्रकृतांग का स्वरूप : कलेवर

दो श्रु त-स्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रु त-स्कन्ध में सोलह तथा दूसरे में सात अध्ययन हैं। पहला श्रु त-स्कन्ध प्रायः पद्यों में

१ सूयगडं अंगाणं, बिइयं तस्स य इमाणि नामाणि।
सूयगडं सुत्तकडं, सूयागडं चेव गोणाइं ॥२॥
सूत्रकृतमिति—एतदङ्गानां द्वितीयं तस्य चामूनि नामानि, तद्यथा—सूतमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्‌भ्यः ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति, तथा सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति, तथा सूचाकृतमिति स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा सास्मिन् कृतेति। एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति।

—अभिधान राजेन्द्र, सप्तम भाग, पृ० १०२७.

है। उसके केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुत-स्कन्ध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इस आगम में गाथा छन्द के अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

विभिन्न वादों का उल्लेख

पंचभूतवाद, ब्रह्मैकवाद—अद्वैतवाद या एकात्मवाद, देहात्मवाद, अज्ञानवाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अकर्तृत्ववाद, सद्वाद, पंचस्कन्धवाद तथा धातुवाद आदि का प्रथम स्कन्ध में प्ररूपण किया गया है। तत्पक्षस्थापन और निरसन का एक सांकेतिक-सा, अस्पष्ट सा क्रम वहां है। इससे यह बहुत स्पष्ट नहीं होता कि उन दिनों अमुक-अमुक वाद किस प्रकार की दार्शनिक परम्पराएं लिये हुए थे। हो सकता है,इन वादों का तब तक किसी व्यवस्थित तथा परिपूर्ण दर्शन के रूप में विकास न हो पाया हो। इन वादों पर अवस्थित दार्शनिक परम्पराओं (Schools of Philosophy) के ये प्रारम्भिक रूप रहे हों। श्रमणों द्वारा भिक्षाचार में सतर्कता, परिषहों के प्रति सहनशीलता, नरकों के कष्ट, साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु तथा निर्ग्रन्थों जैसे शब्दों की व्याख्या, उदाहरणों तथा रूपकों द्वारा अच्छी तरह की गई है। उल्लिखित मतवादों की चर्चा सम्बन्धित व्याख्या-ग्रन्थों में विस्तार से भी मिलती है।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में पर-मतों का खण्डन किया गया है। विशेषतः वहां जीव व शरीर के एकत्व, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद आदि की चर्चा है। प्रस्तुत श्रुत-स्कन्ध में आहार-दोष, भिक्षा-दोष आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रसंगवश योग, उत्पाद, स्वप्न, स्वर, व्यंजन, स्त्री लक्षण आदि विषयों का भी निरूपण हुआ है। अन्तिम अध्ययन का नाम नालन्दीय है। इसमें नालन्दा में हुये गौतम गणधर और पार्श्वापत्यिक उदक पेढ़ाल पुत्त का वार्तालाप है। अन्त में उदक पेढ़ाल पुत्त द्वारा चतुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत स्वीकार करने का वर्णन है।

प्राचीन मतों, वादों और दृष्टिकोणों के अध्ययन के लिए तो यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है ही, भाषा की दृष्टि से भी विशेष प्राचीन

सिद्ध होता है। भाषा-वैज्ञानिक भी इसमें अध्ययन की प्रचुर सामग्री पाते हैं।

दर्शन और आचार

सूत्रकृतांग का अद्दइज्जणाम (आर्द्रकीयाख्य) अध्ययन उस समय के विभिन्न मतवादों का संकेत देता है। सुन्दर घटना प्रसंग के साथ-साथ वहां अनेक दर्शन-पक्षों के आचार का सहजतया उद्घाटन हो जाता है। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के राजकुमार थे। उनके पिता ने एक बार अपने मित्र राजा श्रेणिक के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे। उस समय आर्द्रककुमार ने भी अभयकुमार के लिए उपहार भेजे। राजगृह से भी उनके बदले में उपहार आये। आर्द्रककुमार के लिए अभयकुमार की ओर से जिन मूर्ति के रूप में उपहार आया। उसे पाकर आर्द्रककुमार प्रतिबुद्ध हुये। जाति-स्मरण ज्ञान के आधार से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और वहां से भगवान् महावीर की ओर विहार किया। मार्ग में एक-एक कर विभिन्न मतों के अनुयायी मिले। उन्होंने आर्द्रककुमार से धर्म-चर्चाएं की। आर्द्रककुमार मुनि ने भगवान् महावीर के मत का समर्थन करते हुये सभी मतवादों का खण्डन किया। वह सरस चर्चा-प्रसंग इस प्रकार है।

गोशालक—आर्द्रक ! मैं तुम्हें महावीर के विगत जीवन की कथा सुनाता हूं। वह पहले एकान्त विहारी श्रमण था। अब वह भिक्षु-संघ के साथ धर्मोपदेश करने चला है। इस प्रकार उस अस्थिरात्मा ने अपनी आजीविका चलाने का ढोंग रचा है। उनके वर्तमान और विगत के आचरण में स्पष्ट विरोध है।

आर्द्रक मुनि—भगवान् महावीर का एकान्त-भाव अतीत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालों में स्थिर रहने वाला है। राग-द्वेष से रहित वे सहस्रों के बीच रहकर भी एकान्त-साधना कर रहे हैं। जितेन्द्रिय साधु वाणी के गुण-दोषों को समझता हुआ उपदेश दे, इसमें किंचित् भी दोष नहीं है। जो महाव्रत, अणुव्रत, आस्रव संवर आदि श्रमण-धर्मों को जानकर, विरक्ति को अपनाकर कर्म-बन्धन से दूर रहता है, उसे मैं श्रमण मानता हूं।

कहना, क्या यह संयमी पुरुष के लक्षण हैं ? स्थूल और पुष्ट भेड़ को मारकर, उसे अच्छी तरह से काटकर, उसके मांस में नमक डालकर, तेल में तल कर,पिप्पली आदि द्रव्यों से बघार कर तुम्हारे लिए तैयार करते हैं; उस मांस को तुम खाते हो और यह कहते हो कि हमें पाप नहीं लगता; यह सब तुम्हारे दुष्ट स्वभाव तथा रस-लंपटता का सूचक है। इस प्रकार का मांस कोई अनजान में भी खाता है, वह पाप करता है; फिर यह कहकर कि हम जान कर नहीं खाते; इसलिए हमें दोष नहीं है, सरासर झूठ नहीं तो क्या है ?

प्राणि-मात्र के प्रति दया-भाव रखने वाले, सावद्य दोषों का वर्जन करने वाले ज्ञातपुत्रीय भिक्षु दोष की आशंका से उद्दिष्ट भोजन का ही विवर्जन करते हैं। जो स्थावर और जंगम प्राणियों को थोड़ी भी पीड़ा हो, ऐसा प्रवर्तन नहीं करते हैं, वे ऐसा प्रमाद नहीं कर सकते। संयमी पुरुष का धर्म-पालन इतना सूक्ष्म है।

जो व्यक्ति प्रतिदिन दो-दो सहस्र स्नातक भिक्षुओं को भोजन खिलाता है, वह तो पूर्ण असंयमी है। लोही से सने हाथ वाला व्यक्ति इस लोक में भी तिरस्कार का पात्र है, उसके परलोक में उत्तम गति की तो बात ही कहां ?

जिस वचन से पाप को उत्तेजन मिलता है, वह वचन कभी नहीं बोलना चाहिए। तथाप्रकार की तत्त्व-शुन्य वाणी गुणों से रहित है। दीक्षित कहलाने वाले भिक्षुओं को तो वह कभी बोलनी ही नहीं चाहिए।

हे भिक्षुओ ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है और जीवों के शुभाशुभ कर्म-फल को समझा है। सम्भवतः इसी विज्ञान से तुम्हारा यश पूर्व व पश्चिम समुद्र तक फैला है और तुमने ही समस्त लोक को हस्तगत पदार्थ की तरह देखा है ?

वेदवादी ब्राह्मण

वेदवादी—जो प्रतिदिन दो सहस्र स्नातक ब्राह्मणों को भोजन खिलाता है, वह पुण्य की राशि एकत्रित कर देव-गति में उत्पन्न होता है, ऐसा हमारा वेद-वाक्य है।

आर्द्रक मुनि—मार्जार की तरह घर-घर भटकने वाले दो
ार स्नातकों को जो खिलाता है,मांसाहारी पक्षियों से परिपूर्ण तथा
वेदनामय नरक में जाता है। दया-प्रधान धर्म की निन्दा और
ा प्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला मनुष्य एक भी शील रहित
ाण को खिलाता है, तो वह अन्धकारयुक्त नरक में भटकता है।
देव-गति कहां है ?

..माद्वैतवादी

आत्माद्वैतवादी—आर्द्रक मुनि ! अपने दोनों का धर्म समान
है। वह भूत में भी था और भविष्य में भी रहेगा। अपने दोनों धर्मों में
आचार प्रधान शील तथा ज्ञान को महत्त्व दिया गया है। पुनर्जन्म की
मान्यता में भी कोई भेद नहीं है। किन्तु हम एक अव्यक्त, लोकव्यापी,
सनातन, अक्षय और अव्यय आत्मा को मानते हैं। वह प्राणिमात्र में
व्याप्त है, जैसे—चन्द्र तारिकाओं में।

आर्द्रक मुनि – यदि ऐसा ही है, तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय,
ैश्य व दास, इसी प्रकार कीड़े, पंखी, सर्प, मनुष्य व देव आदि भेद
ी नहीं रहेंगे और वे पृथक्-पृथक् सुख-दुःख भोगते हुये इस संसार
भटकेंगे भी क्यों ?

परिपूर्ण कैवल्य से लोक को समझे बिना जो दूसरों को धर्मो-
पदेश करते हैं,वे अपना और दूसरों का नाश करते हैं। परिपूर्ण कैवल्य
से लोक-स्वरूप को समझकर तथा पूर्ण ज्ञान में समाधियुक्त बन कर
जो धर्मोपदेश करते हैं, वे स्वयं तर जाते हैं और दूसरों को भी तार
लेते हैं।

इस प्रकार तिरस्कार योग्य ज्ञान वाले आत्माद्वैतवादियों को
और सम्पूर्ण ज्ञान,दर्शन,चारित्र युक्त जिनों को अपनी समझ में समान
बतला कर हे आयुष्मन् ! तू अपनी ही विपरीतता प्रकट करता है।

हस्ती तापस

हस्ती तापस—हम एक वर्ष में एक बड़े हाथी को मारकर
अपनी आजीविका चलाते हैं। ऐसा हम अन्य समस्त प्राणियों के प्रति
अनुकम्पा बुद्धि रखते हुये करते हैं।

आर्द्रक मुनि—एक वर्ष में एक ही प्राणी मारते हो और फिर चाहे अन्य जीवों को नहीं भी मारते, किन्तु इतने भर से तुम दोष मुक्त नहीं हो जाते। अपने निमित्त एक ही प्राणी का वध करने वाले तुम्हारे और गृहस्थों में थोड़ा ही अन्तर है। तुम्हारे जैसे आत्म-अहित करने वाले मनुष्य कभी केवल-ज्ञानी नहीं हो सकते।

तथारूप स्वकल्पित धारणाओं के अनुसरण करने की अपेक्षा जिस मनुष्य ने ज्ञानी के आज्ञानुसार मोक्ष मार्ग में मन, वचन, काया से अपने आपको स्थित किया है तथा जिसने दोषों से अपनी आत्मा का संरक्षण किया है और इस संसार-समुद्र को तैरने के साधन प्राप्त किये हैं, वही पुरुष दूसरों को धर्मोपदेश दे।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य भद्रबाहु ने सूत्रकृतांग पर निर्युक्ति की रचना की। आचार्य शीलांक ने वाहरि गणी के सहयोग से टीका लिखी। चूर्णि भी लिखी गयी। श्री हर्षकुल और श्री साधुरंग द्वारा दीपिकाओं की रचना हुयी। डा० हर्मन जेकोबी ने अंग्रेजी में अनुवाद किया जो Sacred Books of the East के पैंतालीसवें भाग में आक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ।

३. ठाणांग (स्थानांग)

दश अध्ययनों में यह श्रुतांग विभाजित है। इसमें ७८३ सूत्र हैं। उपर्युक्त दो श्रुतांगों से इसकी रचना भिन्न कोटि की है। इसके प्रत्येक अध्ययन में, अध्ययन की संख्या के अनुसार वस्तु-संख्यायें गिनाते हुये वर्णन किया गया है। एक लोक, एक अलोक, एक धर्म, एक अधर्म, एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय आदि। इसी प्रकार दूसरे अध्ययन में उन वस्तुओं की गणना और वर्णन आया है, जो दो-दो हैं—जैसे दो क्रियायें आदि। इसी क्रम में दशवें अध्ययन तक यह वस्तु-भेद और वर्णन दश की संख्या तक पहुंच गया है। इस कोटि की वर्णन-पद्धति की दृष्टि से यह श्रुतांग पालि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है।

नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी-अपनी दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। उदाहरणार्थ, ऋक्, यजुष् और साम, ये तीन वेद बतलाये

गये हैं। धर्म-कथा, अर्थ-कथा और काम-कथा, तीन प्रकार की कथाओं का उल्लेख है। वृक्ष तीन प्रकार के बतलाये गये हैं। भगवान् महावीर के तीर्थ-धर्म संघ में हुये सात निह्नवो (धर्मशासन से विमुख और अपलापक विपरीत प्ररूपणा करने वालो) की भी चर्चा आई है। भगवान् महावीर के तीर्थ में जिन नौ पुरुषो ने तीर्थंकर-गोत्र बांधा, यथाप्रसंग उनका भी उल्लेख है। इस प्रकार संख्यानुक्रम के आधार पर इसमें विभिन्न विषयो का वर्णन प्राप्त होता है, जो अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है।

दर्शन-पक्ष

एक प्रकार से आरम्भ कर दश प्रकार तक के मूर्त-अमूर्त भावों का जहा दिग्दर्शन है, वहां दर्शन का भी कौन-सा विषय अछूता रह सकता है? मूल मे जहा संकेत है, व्याख्या-ग्रन्थो में उन्ही संकेत-सूत्रो पर विस्तृत चर्चा भी है। ठाणांग मे हेतुवाद का भी निरूपण है। वह न्याय विषय का सूचन-मात्र है। वहाँ हेतु, प्रमाण और हेत्वाभासो को एक ही संज्ञा से अभिहित किया गया है। व्याख्याकारो ने उन पर यथावस्थित प्रकाश डाला है। स्थानाग का प्रतिपादन निम्नोक्त क्रम से है :

हेउ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—जावए, थावए, वंसए, लूसए।

हेतु चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—यापक, स्थापक, व्यंसक और लूषक।

अहवा हेउ चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।

अथवा हेतु चार प्रकार के कहे गये है, जैसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम।

अहवा हेउ चउव्विहे पण्डत्ते, तजहा—अत्थि ते अत्थि, अत्थि ते णत्थि, णत्थित्तं अत्थि, णत्थित्तं णत्थि।

तात्पर्य यह है, तो वह भी है। यह है, तो वह नही है। यह नहीं, तो वह है। यह नही, तो वह भी नही है।

प्रमाण एवं हेतु तत्त्व से परिचित विद्वानों के लिए उक्त तीनों ही प्रकार के हेतुवाद सहज-गम्य हैं। उदाहरण मात्र के लिए केवल प्रथम चार भेदों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जोकि कथा-क्रम के साथ बहुत ही सरस एवं सुगम बन गये हैं।

यापक हेतु—जिस हेतु से वादी काल-यापन करता है। विशेषणों व वक्रोक्तियों से सामान्य बात को भी लम्बा कर ऐसा किया जाता है। वस्तु-स्थिति को समझने में तथा उत्तरित करने में प्रतिवादी को भी समय लगता है। इस तरह व्यर्थ का कालयापन करके वादी अपना फलित सिद्ध करता है। इस हेतु पर कथा तक है—किसी कुलटा स्त्री ने अपने भद्र पति से कहा, आज कल ऊंट के 'मींगणे' बाजार में बहुत मंहगे हो गये हैं। एक-एक मींगणा एक-एक रूप्यक में बिकता है। तुम मींगणे लेकर बाजार जाओ और यथा-भाव बेचकर द्रव्यार्जन करो। पति बाजार गया। मींगणों के भाव पूछता रहा। कुलटा पत्नी ने अपना उतना समय अपने अन्य प्रेमी के साथ बिताया।

स्थापक हेतु—जो हेतु अपने साध्य की अविलम्ब स्थापना कर देता है, वह स्थापक हेतु है। जैसे—"वन्हिमान् पर्वतोऽयं धूमत्वात्" यह पर्वत अग्निमान् है; क्योंकि धुंआ दीख रहा है। साध्य की अविलम्ब स्थापना के लिए उदाहरण दिया गया है— कोई धूर्त परिव्राजक प्रत्येक गांव में जाकर कहता है, पृथ्वी के मध्य भाग में दिया गया दान बहुत ही फलवान् होता है। तुम्हारा गांव ही मध्य भाग है। यह तथ्य मैं ही जानता हूं, अन्य कोई नहीं। किसी अन्य भद्र परिव्राजक ने इस माया-जाल को तोड़ने के लिए ग्रामवासियों के बीच यह कहना प्रारम्भ किया—परिव्राजक ! पृथ्वी का बीच तो कोई एक ही स्थान हो सकता है। तुम तो सभी गावों में यही कहते आ रहे हो। भद्र परिव्राजक के इतना कहते ही सारा माया-जाल टूट गया। पृथ्वी का केन्द्र तो कोई एक ही स्थान हो सकता है, तत्काल यह सब के समझ में आ गया। हेतु साध्य की सिद्धि में सफल हो गया।।

व्यंसक हेतु—प्रतिपक्षी को व्यामुग्ध कर देने वाला हेतु व्यंसक हेतु है। जैसे—"अस्ति जीवः, अस्ति घटः" की स्थापना पर कोई कह

दे, अस्तित्व धर्म दोनों में समान है, अत जीव और घट एक ही हो गये अर्थात् जीव भी चेतन, घट भी चेतन । तथारूप व्यामुग्धता व्यंसक हेतु है । उदाहरण में बताया गया है—एक गाडीवान् अरण्य से जा रहा था । मार्ग मे उसने एक तित्तिरी पकडकर गाडी में रख ली । किसी नगर मे पहुँचा । एक धूर्त ने कहा—शकट-तित्तिरी का क्या मोल है ? गाडीवान् ने समझा, गाडी में स्थित तित्तिरी के लिए पूछ रहा है । उसने कहा—इसका मोल तर्पणा-लोडिका अर्थात् जल मिश्रित सत्तु है । धूर्त शकट-सहित तित्तिरी लेकर चलने लगा । गाडीवान् झगड़ने लगा, तो धूर्त ने कहा—मैंने तो शकट-तित्तिरी अर्थात् शकट सहित तित्तिरी का मोल ही पूछा था । शाकटिक बेचारा व्यामुग्ध रहा । धूर्त शकट और तित्तिरी लेकर चलते बना । यह है, व्यंसक हेतु ।

लूषक हेतु—धूर्त द्वारा आपादित अनिष्ट का निराकरण करने वाला लूषक हेतु है । जैसे—छला गया शाकटिक किसी अन्य धूर्त से विमर्श सीख कर दूसरे धूर्त के घर जाता है और कहता है—शकट-तित्तिरी का मेरा मोल तर्पण-लोडिका तो दो । धूर्त ने अपनी पत्नी से कहा—सत्तु घोल कर इसे दे दो । पत्नी घोलने बैठी, तो शाकटिक पत्नी को ही बाहु पकड़कर ले जाने लगा । धूर्त ने कहा—यह क्या कर रहे हो ? शाकटिक ने कहा—तर्पणा-लोडिका को ही तो ले जा रहा हूं । यह तो मेरे मोल में आई है, अत मेरी पत्नी है । सत्तु घोलती हुई स्त्री भी तो तर्पणा-लोडिका होती है । बात दोनों ओर से टकरा गई तो धूर्त ने कहा—शाकटिक ! तुम तुम्हारी शकट-तित्तिरी ले जाओ । मेरी पत्नी मेरे पास रहने दो । इस प्रकार व्यंसक हेतु का निराकरण ही लूषक हेतु माना गया है ।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य अभयदेवसूरि (सन् १०६३) ने स्थानांग पर टीका लिखी है । आचारांग, सूत्रकृतांग तथा दृष्टिवाद (जो उपलब्ध नहीं हैं) के अतिरिक्त शेष नौ अंगों पर उनकी टीकायें हैं । वे नवांगी टीकाकार कहलाते हैं । आचार्य अभयदेव ने टीकाकार के उत्तरदायित्व-

निर्वाह की कठिनाइयों का उसमें जो वर्णन किया है, उससे उस समय की शास्त्रावस्थिति ज्ञात होती है। वे लिखते हैं "शास्त्राध्येतृ-सम्प्रदायों[1] के नष्ट हो जाने, सद ऊह, सद् विवेक, सद्वितर्कणा के वियोग, सब विषयों के विवेचनपरक शास्त्रों की अस्वायत्तता, स्मरण-शक्ति के अभाव, वाचनाओं के अनेकत्व, पुस्तकों के अशुद्ध पाठ, सूत्रों की अति गम्भीरता तथा कहीं-कहीं मतभेद; आदि कारणों से त्रुटियां रह जाना सम्भावित है। विवेकशील व्यक्तियों ने शास्त्रों का जो अर्थ स्वीकार किया है, वही हमारे लिए ग्राह्य है, दूसरा नहीं।[2]

आचार्य अभयदेव ने आगे उल्लेख किया है कि इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी श्री द्रोणाचार्य आदि के सहयोग से उन्होंने इसकी टीका की रचना की है। आचार्य नागर्षि द्वारा स्थानांग पर दीपिका की रचना की गयी।

४. समवायांग

समवाय[3] का अर्थ समूह या समुदाय होता है। इसका वर्णन-क्रम स्थानांग जैसा है। स्थानांग में एक से दस तक संख्यायें पहुँचती हैं, जबकि इसमें वे संख्यायें एक से आरम्भ होकर कोटानुकोटि (कोडाकोडी) तक जाती हैं। समवायांग में बारह अंगों तथा उनके विषयों का उल्लेख है। संख्या क्रमिक वर्णन के अन्तर्गत यथा-प्रसंग

---

१. सम्प्रदायो गुरुक्रमः।

२. सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्चमे ॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥
ऊणानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तेऽनुगतो योऽर्थः सोऽस्मद्ग्राह्यो न चेतरः ॥—४९९ पृ०

३. दुवालसंगे गणिपिडिए पन्नत्ते। तं जहा—आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपन्नत्ती, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुए, दिट्ठिवाए। से किं तं आयारे? आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं माहिज्जइ॥ —समवायांग सूत्र; द्वादशांगाधिकार, पृ० २३१–३२

आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के नौ अध्ययनों, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के सोलह अध्ययनों, ज्ञाताधर्मकथाओं के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों, दृष्टिवाद के कतिपय सूत्रों का त्रैराशिक[1] सूत्र-पद्धति से रचे जाने, उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों तथा चौवालीस ऋषि भाषित अध्ययनों, अन्तिम रात्रि में भगवान् महावीर द्वारा प्रकथित पचपन अध्ययनों तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के चौरासी हजार पदों आदि का इसमें उल्लेख है। नन्दी सूत्र की भी इसमें चर्चा है। इन उल्लेखों से ऐसा प्रकट होता है कि द्वादशांग के सूत्र-बद्ध हो जाने के पश्चात् इसका निर्माण हुआ।

वर्णन-क्रम

समवायांग में कुलकरों, चौबीस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों एवं वासुदेवों का, उनके माता-पिता, जन्मस्थान आदि का नामानुक्रम से वर्णन किया गया है। उत्तम शलाका पुरुषों की संख्या चौवन (तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२ वासुदेव ९, बलदेव ९। ५४) दी गई है, तिरेसठ नहीं। वहां प्रतिवासुदेवों को शलाका पुरुषों में नहीं लिया गया है। इससे यह सम्भावित प्रतीत होता है कि उन्हें बाद में शलाका पुरुषों में स्वीकार किया गया हो। यह सारा वर्णन समवायांग के जिस अंश में है, उसे एक प्रकार से संक्षिप्त जैन पुराण की संज्ञा दी जा सकती है। जैन पुराणों के उपजीवक के रूप में निश्चय ही इस भाग का बड़ा महत्व है। भगवान् ऋषभ को यहां कौशलीय तथा भगवान् महावीर को वैशालीय कहा गया है, इससे भगवान् महावीर के वैशाली के नागरिक होने का तथ्य पुष्ट होता है।

समवायांग में लेख, गणित, रूपक, नाट्य, गीति, वाद्ययंत्र आदि बहत्तर कलाओं का वर्णन है। ब्राह्मी लिपि आदि अठारह लिपियों तथा ब्राह्मी के छयालीस मातृका-अक्षरों की चर्चा है। इस पर आचार्य अभयदेवसूरि की टीका है।

५. वियाह-पण्णत्ति (व्याख्या-प्रज्ञप्ति)

जीव-अजीव आदि पदार्थों की विशद, विस्तृत व्याख्या होने

१. मंखलिपुत्र गोशालक का मत

के कारण हुए अंग का नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति[1] है। संक्षेप में भगवती सूत्र भी कहा जाता है। इसमें इकतालीस शतक हैं। प्रत्येक शतक अनेक उद्देशों (उद्देशकों) में बंटा हुआ है। प्रथम से आठ तक, बारह से चौदह तक तथा अठारह से बीस तक के शतकों में से प्रत्येक में दश-दश उद्देशक हैं। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शतकों में उद्देशों की संख्याएं न्यूनाधिक पाई जाती हैं। पन्द्रहवें शतक का उद्देशों में विभाजन नहीं है। उसमें मंखलिपुत्र गोशालक का चरित्र है। यह अपने आप में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। व्याख्या-प्रज्ञप्ति का सूत्र-क्रम से भी विभाजन प्राप्त होता है इसमें कुल सूत्र-संख्या ८६७ है।

वर्णन-शैली

व्याख्या-प्रज्ञप्ति की वर्णन-शैली प्रश्नोत्तर के रूप में है। गणधर गौतम जिज्ञासु-भाव से प्रश्न उपस्थित करते हैं और भगवान् महावीर उनका उत्तर देते हैं या समाधान करते हैं। टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने इन प्रश्नोत्तरो की संख्या छत्तीस हजार बतलाई है। उन्होंने पदों की संख्या दो लाख अठासी हजार दी है। इसके विपरीत समवायांग में पदों की संख्या चौरासी हजार तथा नन्दी में एक लाख चौतालीस हजार बतलाई गयी है।

कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर बहुत छोटे-छोटे हैं। उदाहरणार्थ—

प्रश्न— भगवन् ! ज्ञान का फल क्या है ?
उत्तर — विज्ञान।

---

१. वि विविधाः—जीवाजीवादिप्रचुरपदार्थविषयाः, आ—अभिविधिना कथंचिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया, वा—परस्परासंकीर्णलक्षणाभिधानरूपयाख्याः ख्यानानि—भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान्प्रति-प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ताः प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभियस्याम्।

………अथवा विवाहा—विविधा विशिष्टा वाऽर्थप्रवाहा नयप्रवाहा वा प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते प्रबोध्यन्ते वा यस्याम्………

—अभिधान राजेन्द्र; षष्ठ भाग, पृ० १२३८.

प्रश्न — विज्ञान का फल क्या है ?
उत्तर — प्रत्याख्यान ।
प्रश्न — प्रत्याख्यान का फल क्या है ?
उत्तर — संयम ।

कहीं-कहीं ऐसे प्रश्नोत्तर भी हैं जिनमें पूरा ग्रन्थ ही आ गया है। गणिपिटक द्वादशांग के वर्णन से सम्बद्ध पच्चीसवाँ शतक इसका उदाहरण है।

जैन धर्म का विश्वकोश

प्रश्नोत्तर-क्रम में प्राप्त जैन तत्त्वज्ञान, इतिहास, अनेकानेक घटनाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों का वर्णन, विवेचन इतना विस्तृत हो गया है कि उससे सम्बद्ध अनेक घटनाओं का व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है। इस अपेक्षा से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोश (Encyclopaedia) कहना अतिरंजन नहीं होगा।

अन्य ग्रन्थों का सूचन

विस्तार में जाते हुए विवरण को संक्षिप्त करने के निमित्त स्थान-स्थान पर प्रज्ञापना, जीवाभिगम, औपपातिक व नन्दी जैसे ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनमें से उन-उन प्रसंगों को लेने का सूचन किया है। नन्दीसूत्र वल्लभी वाचना के आयोजक एवं प्रधान श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की रचना माना जाता है। इसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से तथा वहां के विवरणों को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की जो सूचना की गई है, उससे यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को वर्तमान रूप नन्दीसूत्र रचे जाने के पश्चात् वीर निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् ई० सन् ५२७ में प्राप्त हुआ है। यही स्थिति अन्य श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी घटित होती है। ऐसा होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि विषयवस्तु पुरातन तथा आचार्य-परम्परा-नुस्यूत है।

ऐतिहासिक सामग्री

भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र, उनके अनेक शिष्य श्रावक-गृहस्थ अनुयायी तथा अन्य तीर्थंकरों के सम्बन्ध में इस श्रुतांग में

विवेचन प्राप्त होता है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। सातवें शतक में वर्णित महाशिलाकंटक संग्राम तथा रथमूसल संग्राम ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा युद्ध-विज्ञान की दृष्टि से प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। अंग, बंग, मगध, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, दाढ, लाढ़, वज्जि, मोलि, कासी, कौशल, अबाह, संभुक्तर आदि जनपदों का उल्लेख भारत की तत्कालीन प्रादेशिक स्थिति का सूचन करता है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक, भगवान् महावीर के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मंखलिपुत्र गोशालक के जीवन, कार्य, आदि के संबंध में जितने विस्तार से यहां परिचय प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र नहीं होता। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यों तथा उनके द्वारा स्वीकृत व पालित चातुर्याम धर्म का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के समय में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग से चला आने वाला निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप में विद्यमान था। उसका भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित पंच महाव्रत मूलक धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा क्रमशः उसका भगवान् महावीर के आम्नाय में सम्मिलित होना प्रारम्भ हो गया था।

आचार्य अभयदेवसूरि की टीका के अतिरिक्त इस पर अवचूर्णि तथा लघुवृत्ति भी है। लघुवृत्ति के लेखक श्री दानशेखर हैं।

दर्शन-पक्ष

भगवती आगम के सहस्रों प्रश्नों में नाना प्रश्न दर्शन-सम्बद्ध हैं। वे जैन दर्शन की मूलभूत धारणाओं को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम शतक के षष्ठम उद्देशक में कतिपय जटिल प्रश्नों को एक नन्हें से उदाहरण से ऐसा उत्तरित कर दिया गया है कि उससे आगे कोई प्रश्न नहीं रहता। पहले जीव बना या अजीव, पहले लोक बना या अलोक आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर में बताया गया है—पहले मुर्गी बनी या अण्डा, मुर्गी से अण्डा उत्पन्न हुआ या अण्डे से मुर्गी ? जैसे मुर्गी और अण्डे में कोई क्रम नहीं बनता, शाश्वत भाव होने के कारण जड़ और चेतन, लोक और अलोक में भी कोई क्रम नहीं बनता।

मुर्गी व अण्डे की पूर्वापरता का उदाहरण पूर्वोक्त क्रमबद्धता के प्रश्नों का निराकरण तो करता ही है, उनसे भी अधिक वह जगत्

कर्त्तृत्व के प्रश्न को निरस्त करता है। मुर्गी से अण्डा, अण्डे से मुर्गी यही कार्य कारण भाव पहले था, आज है। भविष्य में भी रहेगा। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज, की भी यही बात है। माता-पिता के क्रम से सन्तति-परम्परा पहले भी चलती थी, आज भी चलती है, भविष्य में नहीं चलेगी, यह सोचने का विषय नही है। यह चिन्तन अब बौद्धिक स्तर का नही रहा कि किसी समय यह क्रम नही चलता था और किसी जगत् में सृष्टा ने इस 'कार्य कारण' स्थिति को खड़ा किया। भौतिक, अभौतिक प्रत्येक क्रिया का हेतु आज मनुष्य के लिए बुद्धिगम्य बनता जा रहा है। किसी दिन मनुष्य का ज्ञान आज की अपेक्षा बहुत सीमित था तथा वह बादलो मे प्रकटित इन्द्र-धनुष को भी ईश्वरीय-लीला के अतिरिक्त कुछ नही सोच सकता था। भगवान् महावीर के कथनानुसार विश्व-अस्तित्व की अपेक्षा अनादि, अनन्त तथा परिवर्तन की अपेक्षा सादि, सान्त है। भगवती आगम में लोक विषयक प्रश्न को कई स्थानों पर अनेकान्त की विविध विधाओं से खोला है।

६. णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा या ज्ञातृधर्मकथा)

नाम की व्याख्या

णायाधम्मकहाओ के तीन सस्कृत-रूपान्तर हो सकते हैं—ज्ञाताधर्मकथा, ज्ञातृधर्मकथा, न्याय धर्मकथा। अभिधान राजेन्द्र में 'ज्ञाता धर्मकथा' व्याख्या में कहा गया है—"ज्ञात का अर्थ उदाहरण है। इसके अनुसार इसमें उदाहरण-प्रधान धर्मकथाएं हैं। अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है— जिसके प्रथम श्रुत-स्कन्ध में ज्ञात अर्थात् उदाहरण हैं तथा दूसरे श्रुत-स्कन्ध में धर्म कथायें हैं, वह 'ज्ञाताधर्मकथा' है।"[1]

ज्ञातृधर्मकथा की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है:—ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृ कुलोत्पन्न या ज्ञातृपुत्र भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट

---

१. ज्ञातान्युदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा अथवा ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीये, यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथाः।

—अभिधान राजेन्द्र; चतुर्थ भाग, पृ० २००६

धर्मकथाओं का जिसमें वर्णन है, वह ज्ञातृ धर्मकथा सूत्र है। परम्परया इसी नाम का अधिक प्रचलन है।

तीसरा रूप जो 'न्यायधर्मकथा' सूचित किया गया है, इसके अनुसार न्याय-ज्ञान अथवा नीति-सम्बन्धी सामान्य नियमों विधानों और दृष्टान्तों द्वारा बोध कराने वाली धर्मकथायें जिसमें हों, न्याय-धर्मकथा सूत्र है।

आगम का स्वरूप: कलेवर

दो श्रुत-स्कन्धों में आगम विभक्त है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध में उन्नीस अध्ययन हैं तथा दूसरे में दश वर्ग। प्रथम श्रुत-स्कन्ध के अध्ययन में राजगृह के राजा श्रेणिक–बिम्बिसार के धारिणी नामक रानी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का वर्णन है। जब वह कुमार अपने वैभव तथा समृद्धि के अनुरूप अनेक विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते हुए युवा हुआ, उसका अनेक राजकुमारियों से विवाह कर दिया गया। एक बार ऐसा प्रसंग बना, राजकुमार ने भगवान् महावीर का उपदेश-श्रवण किया। उसके मन में वैराग्य हुआ। उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। श्रमण-धर्म का पालन करते हुए उसके मन में कुछ दुर्बलता आई। वह क्षुब्ध हुआ और अनुभव करने लगा, जैसे उसने राजवैभव छोड़ श्रमण-धर्म स्वीकार कर मानो भूल की हो। किन्तु भगवान् महावीर ने उसे उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया, तो उसका मन संयम में स्थिर और दृढ़ हो गया। अन्य अध्ययनों में इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कथानक हैं, जिनके द्वारा तप, त्याग व संयम का उद्बोध दिया गया है। आठवें अध्ययन में विदेह-राजकन्या मल्लि तथा सोलहवें अध्ययन में द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा है। ये दोनों कथायें बहुत महत्वपूर्ण हैं।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध दश वर्गों में विभक्त है। इन वर्गों में प्रायः स्वर्गों के इन्द्रों की अग्रमहिषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली स्त्रियों की कथायें हैं।

आचार्य अभयदेवसूरि की टीका है। उसे द्रोणाचार्य ने संशोधित किया था। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में जो लिखा है, उसके अनुसार तब अनेक वाचनायें प्रचलित थीं।

७. उवासगदसाओ (उपासकदशा)

नामः अर्थ

उपासक का अर्थ श्रावक तथा दश का अर्थ तद्गतअणुव्रत आदि क्रिया-कलापों से प्रतिबद्ध या युक्त अध्ययन (ग्रन्थ-प्रकरण) है।[1]

प्रस्तुत श्रुतांग में दश अध्ययन हैं जिनमें दश श्रावकों के कथानक हैं। इन कथानकों के माध्यम से जैन गृहस्थों द्वारा पालनीय धार्मिक नियम समझाये गये हैं। साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि धर्मोपासकों को अपने धर्म के परिपालन के सन्दर्भ में कितने ही विघ्नों तथा प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है, पर, वे उनसे कभी विचलित या धर्मच्युत नहीं होते। अन्त में बारह गाथाओं द्वारा दशों कथानकों के मुख्य वर्ण्य-विषयों का संकेत करते हुए ग्रन्थ का सार उपस्थित किया गया है।

आचारांग का पूरक

इस श्रुतांग को एक प्रकार से आचारांग का पूरक कहा जा सकता है। आचारांग में जहां श्रमण-धर्म का निरूपण किया गया है, वहाँ इसमें श्रमणोपासक—श्रावक या गृहस्थ-धर्म का निरूपण किया गया है। आनन्द आदि महावैभवशाली गृहस्थों का जीवन कैसा था, उस समय देश की समृद्धि कैसी थी, इत्यादि विषयों का इस श्रुतांग से अच्छा परिचय मिलता है। आचार्य अभयदेवसूरि की इस पर टीका है।

इसी आगम का एक सुन्दर, सरस व हृदयस्पर्शी प्रसंग यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—भगवान् महावीर अपनी वृहत् शिष्य मण्डली के साथ वैशाली के समीपस्थ वाणिज्य ग्राम में आये। ईशान कोण स्थित द्युतिपलाश उद्यान में ठहरे। इन्द्रभूति गौतम दो दिन से उपोसित थे। तीसरे दिन पात्र, चीवर और शारता को अनुज्ञा ले,

---

१. उपासकाः श्रावकास्तद्गताणुव्रतादि क्रियाकलापप्रतिबद्धा दशाध्ययनानि उपासकदशा।

—अभिधान राजेन्द्र, भा० पृ० १०६४

भिक्षाटन के लिए निकले। गलियों व चौराहों पर एक ही चर्चा थी कि भगवान् महावीर का प्रथम उपासक आनन्द श्रमणोपासक प्रलम्ब तपस्या से अपने शरीर को क्षीण कर अब 'संथारा'—आमरण अनशन में चल रहा है। गौतम के मन में आनन्द से मिलने की उत्कंठा जगी। भिक्षाटन से लौटते हुए वे आनन्द की पौषधशाला में पहुंचे। द्वार पर रुके। गौतम को आये देखकर आनन्द पुलकित हुआ। बोला—भदन्त ! मैं उठकर आगे आऊं, आपका अभिवादन करूं, ऐसी मेरी शारीरिक क्षमता नहीं रही है। आप ही आगे आयें। मुझे निकट से दर्शन दें।

गौतम आगे बढ़े। आनन्द ने यथाविधि वन्दन कर स्वयं को तृप्त किया। गौतम की ओर देख वह बोला, भदन्त ! मुझे इस शान्त साधना में रहते हुए विशाल अवधिज्ञान (अतीन्द्रिय ज्ञान) की उपलब्धि हुई है, जिससे मैं पूर्व, पश्चिम व दक्षिण में पांच-पांच सौ योजन लवण समुद्र तक, उत्तर में चूलहेमवंत पर्वत तक, ऊंचाई में प्रथम सुधर्मा स्वर्ग तक, अधस्तल में प्रथम नरक के लोलुच नरकवास तक सब कुछ हस्तामलकवत् देख सकता हूं।

गौतम ने आनन्द के कथन पर विश्वास नहीं किया। कहा—आनन्द ! इतना विपुल अवधि-ज्ञान किसी गृही को हो नहीं सकता। तुमने मिथ्या सम्भाषण किया है। इसका प्रायश्चित्त करो।

आनन्द ने कहा—भदन्त ! प्रायश्चित्त मिथ्याचरण का होता है, न कि सत्याचरण का। मैं प्रायश्चित्त का भागी नहीं हूं। कृपया आप ही प्रायश्चित्त करें। आप ही ने सत्य को असत्य कहा है।

गौतम के मन में आनन्द के कथन से दुश्चिन्ता हुई। मैं चतुर्दश सहस्र भिक्षुओं में अग्रगण्य श्रमण हूं। यह एक श्रमणोपासक मेरी बात को काट रहा है।

गौतम ने सोचा, इसका निर्णय मैं भगवान् महावीर से कराऊंगा। वे द्रुतगति से उद्यान में आये। भगवान् महावीर को वन्दन किया और सारी समस्या कही।

भगवान् महावीर तो वीतराग थे। उनके मन में भला कब आना कि मेरे अग्रणी शिष्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न है और मुझे

इसकी याद रखनी है। उन्हें तो यथार्थ ही कहना था। वे बोले, गौतम ! प्रायश्चित्त के भागी तुम ही हो। तुमने असत्य का आग्रह किया था। आनन्द ने जो कहा, वह सम्यक् है, सत्य है। तुम इन्हीं पैरों वापिस जाओ और श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा-याचना करो।

गौतम भी तो वीतराग-साधना के पथिक थे। अपने अहं का विसर्जन कर, आनन्द के पास लौटे। अपनी भूल को स्वीकार किया, आनन्द से क्षमा-याचना की।

८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)

नाम : व्याख्या

जिन महापुरुषों ने घोर तपस्या तथा आत्म-साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर जन्म-मरण-आवागमन का अन्त किया, वे अन्तकृत् कहलाये। उन अर्हतों का वर्णन होने से इस श्रुतांग का नाम अन्तकृद्दशांग है। इस श्रुतांग में आठ वर्ग हैं। प्रथम में दस, द्वितीय में आठ, तृतीय में तेरह, चतुर्थ में दस, पंचम में दस, षष्ठ में सोलह, सप्तम में तेरह, तथा अष्टम वर्ग में दस अध्ययन हैं। इस श्रुतांग में कथानक पूर्णतया वर्णित नहीं पाये जाते। 'वण्णओ' और 'जाव' शब्दों द्वारा अधिकांश वर्णन व्याख्या-प्रज्ञप्ति अथवा ज्ञाताधर्मकथा आदि से पूर्ण कर लेने की सूचना मात्र कर दी गयी है।

स्थानांग में अन्तकृद्दशा का जो वर्णन आया है, उससे इसका वर्तमान स्वरूप मेल नहीं खाता। वहां इसके दस[1] अध्ययन बतलाये हैं। उन अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं १. नमि अध्ययन, २. मातंग अध्ययन, ३. सोमिल अध्ययन, ४. रामगुप्त अध्ययन, ५. सुदर्शन अध्ययन, ६. जमालि अध्ययन, ७. भगालि अध्ययन,

---

१. दस दसाओ पण्णत्ताओ तं जहा—
कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ।
—स्थानांग सूत्र; स्थान १०, ९२

८. किंकर्मपल्लित अध्ययन, ९. फालित अध्ययन, १०. मंडितपुत्र अध्ययन ।

बहुत सम्भावित यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इस श्रुतांग ग्रन्थ में उपासकदशांग की तरह दश ही अध्ययन रहे होंगे। पीछे पल्लवित होकर वर्तमान रूप में पहुँचा हो। जिस प्रकार उपासकदशा में गृहस्थ साधकों या श्रावकों के कथानक वर्णित हैं, उसी तरह इस श्रुतांग में अर्हतों के कथानक वर्णित किये गये हैं और वे प्रायः एक जैसी शैली में लिखे गये हैं।

अन्तकृद्दशा के तृतीय वर्ग के अष्टम अध्ययन में देवकी-पुत्र गजसुकुमाल का कथानक है; जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह कथानक उत्तरवर्ती जैन साहित्य में पल्लवित और विकसित होकर अवतारित हुआ है। छठे वर्ग के तृतीय अध्ययन में अर्जुन-मालाकार का कथानक है, जो जैन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र रूप से इस कथानक पर अनेक रचनाएं हुई हैं। अष्टम वर्ग में अनेक प्रकार की तपो-विधियों, उपवासों तथा व्रतों का वर्णन है।

९. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा)

नाम : व्याख्या

श्रुतांग में कतिपय ऐसे विशिष्ट महापुरुषों के आख्यान हैं, जिन्होंने तपः-पूर्ण साधना के द्वारा समाधि-मरण प्राप्त कर अनुत्तर विमानों में जन्म लिया। वहां से पुनः केवल एक ही बार मनुष्य-योनि में आना होता है, अर्थात् उसी मानव-भव में मोक्ष हो जाता है। अनुत्तर और उपपात (उद्भव, जन्म) के योग से यह शब्द बना है, जो अन्वर्थक है।

तीन वर्गों में यह श्रुतांग विभक्त है। प्रथम वर्ग में दश, दूसरे वर्ग में तेरह तथा तीसरे वर्ग में दश अध्ययन हैं। इनमें चरित्रों का वर्णन परिपूर्ण नहीं है। केवल सूचन मात्र कर अन्यत्र देखने का इंगित कर दिया गया है। प्रथम वर्ग में धारिणी-पुत्र जालि तथा तृतीय वर्ग में भद्रा-पुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है। धन्य अनगार की तपस्या, तज्जनित देह-क्षीणता आदि ऐसे

प्रसंग है, जो महासीहनादसुत्त, कस्सपसीहनादसुत्त आदि पालि-ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध की तपस्या-जनित दैहिक क्षीणता का स्मरण कराते हैं।

वर्तमान रूप : अपरिपूर्ण, अयथावत्

ऐसा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का वर्तमान में जो स्वरूप प्राप्त है, वह परिपूर्ण और यथावत् नहीं है। स्थानांग में इसके भी दस अध्ययनों[1] की चर्चा आई है। प्रतीत होता है, प्रारम्भ में उपासकदशा तथा अन्तकृद्दशा की तरह इसके भी दस अध्ययन रहे हों, जो अब केवल तीन वर्गों के रूप में अवशिष्ट हैं।

१०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण)

नाम के प्रतिरूप

इस अंग के नाम में प्रश्न और व्याकरण — इन दो शब्दों का योग है, जिसका अर्थ है प्रश्नों का विश्लेषण, उत्तर या समाधान।[2] पर, आज इसका जो स्वरूप प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इसमें प्रश्नोत्तरों का सर्वथा अभाव है।

वर्तमान रूप

प्रश्नव्याकरण का जो संस्करण प्राप्त है, वह दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में पांच आस्रव द्वार—हिंसा, मृषावाद

---

१. अणुत्तरोववाइयदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा—
इसिदासे य धण्णे य, सुनक्खत्ते य कत्तिये।
संठाणे सालिभद्दे य, आणंदे तेयली इय॥
दसण्णभद्दे अइमुत्ते एमेते दस आहिया॥
—स्थानांग सूत्र, स्थान १०, ९६

२. प्रश्नाश्च पृच्छा, व्याकरणानि च निर्वचनानि समाहारत्वात् प्रश्नव्याकरणम्। तत्प्रतिपादको ग्रन्थोपि प्रश्नव्याकरणम्। प्रश्ना-अङ्गुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते यस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम्। प्रवचनपुरुषस्य दशमेऽङ्गे। अयं च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं त्वास्रवपञ्चकसंवरपञ्चकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यते....।
—अभिधान राजेन्द्र; पंचम भाग, पृ० ३६१

(असत्य), अदत्त (चौर्य), अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह का स्वरूप बड़े विस्तार के साथ बतलाया गया है। द्वितीय खण्ड में पांच संवरद्वार— अहिंसा, सत्य, दत्त (अचौर्य), ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रह की विशद व्याख्या की गयी है। आचार्य अभयदेवसूरि की टीका के अतिरिक्त आचार्य ज्ञानविमल की भी इस पर टीका है।

वर्तमान-स्वरूप : समीक्षा

स्थानांग सूत्र में प्रश्न व्याकरण के उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्य-भाषित, महावीर-भाषित, क्षोमक[1] प्रश्न, कोमल प्रश्न, आदर्श-प्रश्न,[2] अंगुष्ठ प्रश्न तथा बाहु प्रश्न; इन दश[3] अध्ययनों की चर्चा है।

नन्दीसूत्र में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न, एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न, अंगुष्ठ के प्रश्न, बाहु के प्रश्न, आदर्श (दर्पण) प्रश्न, अन्य अनेक दिव्य विद्याओं (मन्त्र-प्रयोग), नागकुमार तथा स्वर्णकुमार देवों को सिद्ध कर दिव्य संवाद प्राप्त करना आदि प्रश्न-व्याकरण के विषय वर्णित हुये हैं।[4]

---

१. विद्या-विशेष, जिससे वस्त्र में देवता का आह्वान किया जाता है।

—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० २८१

२. विद्या-विशेष, जिससे दर्पण में देवता का आगमन होता है।

—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ५१

३. पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा प०, तं० उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं।

—स्थानांग; स्थान १०, ६८

४. से किं तं पण्हावागरणाइं ? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिण सयं। तं जहा— अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, एणे विचित्ता दिव्वा विज्जाइं, सया नाग-सुवण्णेहिं सिद्धिं दिवा संवाया आघविज्जंति, पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा-वेढा, संखिज्जा सिलोगा........।

—नन्दी सूत्र; पृ० १८५-८६

स्थानांग और नन्दी में प्रश्न-व्याकरण के स्वरूप का जो विश्लेषण हुआ है, वैसा कुछ भी आज उसमें नहीं मिलता। इससे यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा, स्थानांग और नन्दी के अनुसार इसका जो मौलिक रूप था, वह रह नहीं पाया। सम्भवतः उसका विच्छेद हो गया हो।

११. विवागसुय (विपाकश्रुत)

अशुभ-पाप और शुभ-पुण्य कर्मों के दुःखात्मक तथा सुखात्मक विपाक (फल) का इस श्रुतांग में प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण यह विपाक श्रुत या विपाक सूत्र कहा जाता है। दो श्रुत-स्कन्धों में यह श्रुतांग विभक्त है। पहला श्रुत-स्कन्ध दुःख-विपाक विषयक है तथा दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रत्येक में दश-दश अध्ययन हैं, जिनमें जीव द्वारा आचरित कर्मों के अनुरूप होने वाले दुःखात्मक और सुखात्मक फलों का विश्लेषण है।

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जो सूक्ष्म, तलस्पर्शी एवं विशद विवेचन हुआ है, विश्व के दर्शन-वाङ्मय में वह अनन्य व असाधारण है। उसके सोदाहरण विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसमें जहाँ कहीं लट्ठी टेक कर चलता हुआ, भीख मांगता हुआ कोई अन्धा दिखाई देता है, वहाँ कहीं खास, कास, कफ, भगन्दर, खुजली, कुष्ट आदि भयावह रोगों से पीड़ित मनुष्य मिलते हैं। राजपुरुषों द्वारा निर्दयतापूर्वक ताड़ित, पीड़ित तथा उद्वेलित किये जाते लोग दिखाई देते हैं। गर्भवती स्त्रियों के दोहद, नर-बलि, वेश्याओं के प्रलोभन, नाना प्रकार के मांस-संस्कार व मिष्टान्न आदि के विषय में भी प्रस्तुत ग्रन्थ में विवरण प्राप्त होते हैं। इससे पुरातनकालीन मान्यताओं, प्रवृत्तियों, प्रथाओं, अपराधों आदि का सहज ही परिचय प्राप्त होता है। सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स्थानांग में कम्मविवागदसाओ के नाम से उल्लेख हुआ है। वहां उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ तथा

पण्हावागरणदसाओ की तरह इसके दश अध्ययन[1] वतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं:—१. मृगापुत्र अध्ययन, २. गोत्रास अध्ययन, ३. अण्ड अध्ययन, ४. शकट अध्ययन, ५. ब्राह्मण अध्ययन, ६. नन्दि-षेण अध्ययन, ७. सौकरिक अध्ययन, ८. उदुम्बर अध्ययन, ९. सहस्र-दाह आमलक अध्ययन, १०. कुमारलक्ष्मी अध्ययन।

वर्तमान में प्राप्त विपाक सूत्र के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के दश अध्ययन[2] इस प्रकार हैं:—१ मृगापुत्र अध्ययन, २. उज्झित अध्ययन, ३. अभग्ग (अभग्न) सेन अध्ययन, ४. शकट अध्ययन, ५. वृहस्पति अध्ययन, ६. नन्दि अध्ययन, ७. उम्बर अध्ययन, ८. शौर्यदत्त अध्ययन, ९. देवदत्ता अध्ययन, १०. अंजु अध्ययन।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के अध्ययन इस प्रकार हैं: १. सुवाहु अध्ययन, २. भद्रनन्दी अध्ययन, ३. सुजात अध्ययन, ४. सुवासव अध्ययन, ५. जिनदास अध्ययन, ६. धनपति अध्ययन, ७. महावल अध्ययन, ८. भद्रनन्दी अध्ययन, ९. महाचन्द्र अध्ययन तथा १०. वरदत्त अध्ययन[3]।

---

१. कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

मियापुत्ते य गुत्तासे अंडे सगडेइ यावरे।
माहणे नंदिसेणे य, सूरिए य उदुंबरे॥
सहसुद्दाहे आमलए, कुमारे लच्छई ति य।

—स्थानांग; स्थान १०, ९३

२. समणेणं आइगरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—मियापुत्ते, उज्झियए, अभग्ग, सगडे, वहस्सइ, नंदी, ऊंवर, सोरियदत्ते य देवदत्ता य, अंजु य।

—विपाक सूत्र; प्रथम श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अ० ९

३. समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा—
सुवाहू, भद्दणंदी, सुजाये, सुवासवे, तहेव जिणदासे।
धणवति य महब्बलो, भद्दणंदी, महचंदे, वरदत्ते॥

—विपाक सूत्र; द्वितीय श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अ०, २

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में सुबाहुकुमार से सम्बद्ध प्रथम अध्ययन विस्तृत है। अग्रिम नौ अध्ययन अत्यन्त संक्षिप्त हैं। उनमें पात्रों के चरित की सूचनाएं मात्र हैं। प्रायः सुबाहुकुमार की तरह परिज्ञात करने का संकेत कर कथानक का संक्षेप कर दिया गया है। इन्हें केवल नाम-मात्र के अध्ययन कहा जा सकता है।

स्थानांग सूत्र मे वर्णित कम्मविवागदसाओ के तथा विपाक सूत्र प्रथम श्रुत-स्कन्ध के निम्नांकित अध्ययन प्राय नाम-सादृश्य लिये हुए हैं :

स्थानांग	विपाक-सूत्र, प्रथम श्रुत-स्कन्ध
१. मृगापुत्र अध्ययन	१. मृगापुत्र अध्ययन
४. शकट अध्ययन	४ शकट अध्ययन
६. नन्दिषेण अध्ययन	६. नन्दि (नन्दिषेण) अध्ययन
७. उदुम्बर अध्ययन	७. उम्बर अध्ययन

तुलनात्मक विवेचन से ऐसा अनुमान असम्भाव्य कोटि मे नही जाता कि विपाक (सूत्र) का स्वरूप कुछ यथावत् रहा हो, कुछ परिवर्तित या शब्दान्तरित हुआ हो। अध्ययनो की क्रम-स्थापना में भी कुछ भिन्नता आई हो।

१२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)

स्थानांग में दृष्टिवाद के पर्याय

पूर्वों के विवेचन-प्रसग मे दृष्टिवाद के विषय मे संकेत किया गया है। इसे विच्छिन्न माना जाता है। स्थानाग सूत्र में इसके दश पर्यायवाची शब्दो[1] का उल्लेख हुआ है : १. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३. भूतवाद, ४. तत्ववाद, ५. सम्यक्वाद, ६. धर्मवाद. ७. भाषा-विजय, ८. पूर्वगत, ९. अनुयोगगत, १०. सर्वप्राण भूतजीव सत्व सुखावह।

१. दिट्ठिवायस्स ण दस नामधिज्जा प० त० दिट्ठिवाएइ वा हेउवाएइ वा भूयवाएइ वा तच्चावाएइ वा सम्मावाएइ वा धम्मावाएइ वा भासाविजयेइ वा पुव्वगएइ वा अणुयोगगएइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।
—स्थानांग सूत्र, स्थान १०, ७७.

दृष्टिवाद के भेद : उहापोह

समवायांग आदि में दृष्टिवाद के पांच भेदों का उल्लेख है :— १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग, ५. चूलिका। स्थानांग सूत्र में दिये गये दृष्टिवाद के पर्यायवाची शब्दों में आठवां 'पूर्वगत' है। यहां दृष्टिवाद के भेदों में तीसरा 'पूर्वगत' है। अर्थात् 'पूर्वगत' का प्रयोग दृष्टिवाद के पर्याय के रूप में भी हुआ है और उसके एक भेद के रूप में भी। दोनों स्थानों पर उसका प्रयोग. साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है, भिन्नार्थकता लिये हुये होना चाहिये; क्योंकि दृष्टिवाद समष्ट्यात्मक संज्ञा है, इसलिए उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त 'पूर्वगत' का यही अर्थ होता है. जो दृष्टिवाद का है। दृष्टिवाद के एक भेद के रूप में आया हुआ 'पूर्वगत' शब्द सामान्यत: दृष्टिवाद के एक भाग या अंश का द्योतक होता है, जिसका आशय चतुर्दश पूर्वात्मक ज्ञान है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दृष्टिवाद और पूर्वगत—चतुर्दश पूर्व-ज्ञान एक नहीं कहा जा सकता। पर, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। वस्तुत: चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान की व्यापकता इतनी अधिक है कि उसमें सब प्रकार का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है। कुछ भी अवशेष नहीं रहता। यही कारण है कि चतुर्दश पूर्वधर की संज्ञा श्रुत-केवली है। पूर्वगत को दृष्टिवाद का जो एक भेद कहा गया है, वहां सम्भवत: एक भिन्न दृष्टिकोण रहा है। पूर्वगत के अतिरिक्त अन्य भेदों द्वारा विभिन्न विधाओं को संकेतित करने का अभिप्राय उनके विशेष परिशीलन से प्रतीत होता है। कुछ प्रमुख विषय - ज्ञान के कतिपय विशिष्ट पक्ष जिनकी जीवन में अपेक्षाकृत विशेष उपयोगिता होती है, विशेष रूप से परिशीलनीय होते हैं; अत: सामान्य-विशेष के दृष्टिकोण से यह निरूपण किया गया प्रतीत होता है। अर्थात् सामान्यत: तो पूर्वगत में समग्र ज्ञान-राशि समायी हुई है ही, पर, विशेष रूप से तद्व्यतिरिक्त भेदों की वहां अध्येतव्यता विवक्षित है।

भेद-प्रभेदों के रूप में विस्तार

दृष्टिवाद के जो पांच भेद बतलाये गये हैं, उनके भेद-प्रभेदों

के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनसे अधिगत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवेचन था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय तथा चतुर्नय आदि विमर्श-परिपाटियों का विश्लेषण था। छिन्नछेदनय व चतुर्नय की परिपाटियां निर्ग्रन्थों द्वारा तथा अच्छिन्नछेदनयात्मक परिपाटी आजीवकों द्वारा व्यहृत थी। आगे चल कर इन सब का समावेश जैन नयवाद में हो गया।

अनुयोग का तात्पर्य

दृष्टिवाद का चतुर्थ भेद अनुयोग है, उसे प्रथमानुयोग तथा गण्डिकानुयोग[1] के रूप में दो भागों मे बाटा गया है। प्रथम मे अर्हतो के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान आदि से सम्बद्ध इतिवृत्त का समावेश है, जब कि दूसरे मे कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों के चरित का। जिस प्रकार के विषयो के निरूपण की चर्चा है, उससे अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण की संज्ञा दी जा सकती है। दिगम्बर-परम्परा मे इसका सामान्य नाम प्रथमानुयोग ही प्राप्त होता है।

दृष्टिवाद के पंचम भेद चूलिका के सम्बन्ध मे कहा गया है—चूला (चूलिका) का अर्थ शिखर है। जिस प्रकार मेरु पर्वत की चूलाएं (चूलिकाए) या शिखर हैं, उसी प्रकार दृष्टिवाद के अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग मे उक्त और अनुक्त, दोनों प्रकार के अर्थों—विवेचनो की संग्राहिका, ग्रन्थ-पद्धतियां चूलिकायें हैं। चूर्णिकार ने बतलाया है कि दृष्टिवाद में परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग मे जो अभणित या अव्याख्यात है, उसे चूलिकाओं मे व्याख्यात किया गया है। प्रारम्भ के चार पूर्वों[2] की जो चूलिकायें हैं, उन्ही का यहा अभिप्राय है[3]। दिगम्बर-परम्परा मे ऐसा नहीं माना

---

१. इहैकवचनव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकानुयोगा।

—अभिधानराजेन्द्र, तृतीय भाग, पृ० ७६१.

२. (१) उत्पाद, (२) अग्रायणीय, (३) वीर्यप्रवाद, (४) अस्ति-नास्ति-प्रवाद।

३. अथ काश्ताश्चूला: ? इह चूला शिखरमुच्यते। यथा मेरौ चूला, तत्र

चूला:

दृष्टिवाद के भेद : उहापोह

समवायांग आदि में दृष्टिवाद के पांच भेदों का उल्लेख है :— १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग, ५. चूलिका। स्थानांग सूत्र में दिये गये दृष्टिवाद के पर्यायवाची शब्दों में आठवां 'पूर्वगत' है। यहां दृष्टिवाद के भेदों में तीसरा 'पूर्वगत' है। अर्थात् 'पूर्वगत' का प्रयोग दृष्टिवाद के पर्याय के रूप में भी हुआ है और उसके एक भेद के रूप में भी। दोनों स्थानों पर उसका प्रयोग. साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है, भिन्नार्थकता लिये हुये होना चाहिये; क्योंकि दृष्टिवाद समष्ट्यात्मक संज्ञा है, इसलिए उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त 'पूर्वगत' का यही अर्थ होता है. जो दृष्टिवाद का है। दृष्टिवाद के एक भेद के रूप में आया हुआ 'पूर्वगत' शब्द सामान्यतः दृष्टिवाद के एक भाग या अंश का द्योतक होता है, जिसका आशय चतुर्दश पूर्वात्मक ज्ञान है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दृष्टिवाद और पूर्वगत—चतुर्दश पूर्व-ज्ञान एक नहीं कहा जा सकता। पर, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। वस्तुतः चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान की व्यापकता इतनी अधिक है कि उसमें सब प्रकार का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है। कुछ भी अवशेष नहीं रहता। यही कारण है कि चतुर्दश पूर्वधर की संज्ञा श्रुत-केवली है। पूर्वगत को दृष्टिवाद का जो एक भेद कहा गया है, वहां सम्भवतः एक भिन्न दृष्टिकोण रहा है। पूर्वगत के अतिरिक्त अन्य भेदों द्वारा विभिन्न विधाओं को संकेतित करने का अभिप्राय उनके विशेष परिशीलन से प्रतीत होता है। कुछ प्रमुख विषय - ज्ञान के कतिपय विशिष्ट पक्ष जिनकी जीवन में अपेक्षाकृत विशेष उपयोगिता होती है, विशेष रूप से परिशीलनीय होते हैं; अतः सामान्य-विशेष के दृष्टिकोण से यह निरूपण किया गया प्रतीत होता है। अर्थात् सामान्यतः तो पूर्वगत में समग्र ज्ञान-राशि समायी हुई है ही, पर, विशेष रूप से तद्व्यतिरिक्त भेदों की वहां अध्येतव्यता विवक्षित है।

भेद-प्रभेदों के रूप में विस्तार

दृष्टिवाद के जो पांच भेद बतलाये गये हैं, उनके भेद-प्रभेदों

के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनसे अधिगत होता है कि परिकर्म के
अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवेचन था। सूत्र के अन्तर्गत
छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय तथा चतुर्नय आदि विमर्श-परिपाटियो
का विश्लेषण था। छिन्नछेदनय व चतुर्नय की परिपाटिया निर्ग्रन्थो
द्वारा तथा अच्छिन्नछेदनयात्मक परिपाटी आजीवकों द्वारा व्यहृत
थी। आगे चल कर इन सब का समावेश जैन नयवाद में हो गया।

अनुयोग का तात्पर्य

दृष्टिवाद का चतुर्थ भेद अनुयोग है, उसे प्रथमानुयोग तथा
गण्डिकानुयोग[1] के रूप में दो भागो मे बांटा गया है। प्रथम मे अर्हतो
के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान आदि से सम्बद्ध इतिवृत्त का समावेश है, जब
कि दूसरे में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषो के
चरित का। जिस प्रकार के विषयो के निरूपण की चर्चा है, उससे
अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण की संज्ञा दी जा सकती है। दिगम्बर-
परम्परा मे इसका सामान्य नाम प्रथमानुयोग ही प्राप्त होता है।

दृष्टिवाद के पचम भेद चूलिका के सम्बन्ध मे कहा गया है—
चूला (चूलिका) का अर्थ शिखर है। जिस प्रकार मेरु पर्वत की
चूलाएं (चूलिकाए) या शिखर हैं, उसी प्रकार दृष्टिवाद के अन्तर्गत
परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग मे उक्त और अनुक्त, दोनों प्रकार
के अर्थो—विवेचनो की सग्राहिका, ग्रन्थ-पद्धतिया चूलिकायें हैं।
चूर्णिकार ने बतलाया है कि दृष्टिवाद में परिकर्म, सूत्र, पूर्व और
अनुयोग मे जो अभणित या अव्याख्यात है, उसे चूलिकाओं मे व्या-
ख्यात किया गया है। प्रारम्भ के चार पूर्वो[2] की जो चूलिकायें हैं,
उन्ही का यहां अभिप्राय है[3]। दिगम्बर-परम्परा मे ऐसा नहीं माना

१. इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते।
तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकानुयोगा।
—अभिधानराजेन्द्र; तृतीय भाग, पृ० ७६१.

२. (१) उत्पाद, (२) अग्रायणीय, (३) वीर्यप्रवाद, (४) अस्ति-
नास्ति-प्रवाद।

३. अथ काऽऽसावचूला: ? इह चूला शिखरमुच्यते। यथा मेरौ चूला, तत्र
क्रमशः

जाता। वहां चूलिका के पांच भेद बतलाये गये हैं: १. जलगत, २. स्थलगत, ३. मायागत, ४. रूपगत तथा ५. आकाशगत। ऐसा अनुमेय है कि इन चूलिका-भेदों के विषय में सम्भवतः इन्द्रजाल तथा मन्त्र-तन्त्रात्मक आदि थे, जो जैन धर्म की तात्त्विक (दार्शनिक) तथा समीक्षा-प्रधान दृष्टि के आगे अधिक समय तक टिक नहीं सके; क्योंकि इनकी अध्यात्म-उत्कर्ष से संगति नहीं थी।

द्वादश उपांग

उपांग

प्राचीन परम्परा से श्रुत का विभाजन अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में चला आ रहा है। नन्दी सूत्र में अंग-बाह्य का कालिक और उत्कालिक सूत्रों के रूप में विवेचन हुआ है। जो सूत्र ग्रन्थ आज उपांगों में अन्तर्गर्भित हैं, उनका उनमें समावेश हो जाता है। अंग-ग्रन्थों के समकक्ष उतनी ही (बारह) संख्या में उपांग ग्रन्थों का निर्धारण हुआ। उसके पीछे क्या स्थितियां रही, कुछ भी स्पष्ट नहीं है। आगम पुरुष की कल्पना की गई। जहां उसके अंग-स्थानीय शास्त्रों की परिकल्पना और अंग-सूत्रों की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना हुई, वहां उपांग भी कल्पित किये गये। इससे अधिक सम्भवतः कोई तथ्य, जो ऐतिहासिकता की कोटि में आता हो, प्राप्त नहीं है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ-भाष्य में उपांग शब्द व्यवहृत हुआ है।

अंग : उपांग : असादृश्य

अंग गणधर-रचित हैं। उनके अपने विषय हैं। उपांग स्थविर-रचित हैं। उनके अपने विषय हैं। विषय-वस्तु, विवेचन आदि की

[पूर्व पृष्ठ का शेष]

चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः। तथा चाह चूर्णिकृत्-दिट्ठिवाए जं परिकम्मसुत्तपुव्वाणुजोगे [illegible] न भणियं, तं चूलासु भणियं ति। अत्र सूरिराह-चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणाम्, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एव चूलाः........

—अभिधान राजेन्द्र; चतुर्थ भाग, पृ० [illegible]५१५

दृष्टि से वे परस्पर प्रायः असदृश या भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, पहला उपांग पहले अंग से विषय, विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण आदि की दृष्टि से सम्बद्ध होना चाहिये, पर, वैसा नहीं है। यही लगभग सभी उपांगों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। यदि यथार्थ सगति जोड़ें तो उपांग अंगों के पूरक होने चाहिये, जो नहीं हैं। फिर इस नाम की प्रतिष्ठापना कैसे हुई, कोई व्यक्त समाधान दृष्टिगत नहीं होता।

वेदों के अंग

भारत के प्राचीन वाङ्मय में वेदों का महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अर्थ को समझने के लिये, वहां वेदांगों की कल्पना की गयी, जो शिक्षा (वैदिक संहिताओं के शुद्ध उच्चारण तथा स्वर-संचार के नियम-ग्रन्थ), व्याकरण, छन्दः शास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति-शास्त्र), ज्योतिष तथा कल्प (यज्ञादि-प्रयोगों के उपपादन-ग्रन्थ) के नाम से प्रसिद्ध हैं[1]। इनके सम्यक् अध्ययन के बिना वेदों को यथावत् समझना तथा याज्ञिक रूप में उनका क्रियान्वयन सम्भव नहीं हो सकता, अतः उनका अध्ययन आवश्यक माना गया।

वेदों के उपांग

वेदार्थ की और अधिक स्पष्टता तथा जन-ग्राह्यता साधने के हेतु उपर्युक्त वेदांगों के अतिरिक्त वेदों के चार उपांगों की कल्पना की गयी, जिनमें पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का स्वीकार हुआ[2]।

---

१. छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते॥

—पाणिनीय शिक्षा; ४१-४२

२. (क) संस्कृत हिन्दी कोश : आप्टे, पृ० २१४
(ख) Sanskrit-English Dictionary, by Sir Monier M. William, P. 213.
(ग) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।

याज्ञवल्क्य स्मृति, १-३.

यह भी आवश्यकता के अनुरूप हुआ और इससे अभीप्सित ध्येय सधा भी। फलतः वेदाध्ययन में सुगमता हुई।

उपवेदों की परिकल्पना

वैदिक साहित्य में चारों वेदों के समकक्ष चार उपवेदों की भी कल्पना हुई, जो आयुर्वेद गान्धर्व वेद (संगीत-शास्त्र), धनुर्वेद और अर्थशास्त्र (राजनीति-विज्ञान) के रूप में प्रसिद्ध है।

वेदों के अंगों तथा उपांगों की प्रतिष्ठापना की तो सार्थकता सिद्ध हुई, पर, उपवेद वेदों के किस रूप में पूरक हुये; दार्शनिक दृष्टि से उतना स्पष्ट नहीं है, जितना होना चाहिये। उदाहरणार्थ, सामवेद को गान्धर्व वेद से जोड़ा जा सकता है, उसी तरह अन्य वेदों की भी वेदों के साथ संगति साधने के लिए विवक्षा हो सकती है। दूरान्वित-तया संगति जोड़ना या परस्पर तालमेल बिठाना कहीं भी दुःसम्भव नहीं होता। पर, वह केवल तर्क-कौशल और वाद-नैपुण्य की सीमा में आता है। उसमें वस्तुतः सत्योपपादन का भाव नहीं होता। पर, 'उप' उपसर्ग के साथ निष्पन्न शब्दों में जो 'पूरकता' का विशेष गुण होना चाहिये, वह कहां तक फलित होता है, यही देखना है। जैसे, गान्धर्व उपवेद सामवेद से निःसृत या विकसित शास्त्र हो सकता है, पर, वह सामवेद का पूरक हो, जिसके बिना सामवेद में कुछ अपूर्णता प्रतीत होती हो, ऐसा कैसे माना जा सकता है ? सामवेद और गान्धर्व उपवेद की तो किसी-न-किसी तरह संगति बैठ भी सकती है, पर, औरों के साथ ऐसा नहीं हो सकता। फिर भी ऐसा किया गया, यह क्यों ? इस प्रश्न का इत्थंभूत समाधान सुलभ नहीं दीखता। हो सकता है, धनुर्वेद आदि लोकजनीन शास्त्रों को मूल वैदिक वाङ्मय का अंश या भाग सिद्ध करने की उत्कंठा का यह परिणाम हुआ हो।

जैन श्रुतोपांग

अंग-प्रविष्ट या अंग-श्रुत सर्वाधिक प्रामाणिक है; क्योंकि वह भगवत्प्ररूपित और गणधर-सर्जित है। तद्व्यतिरिक्त साहित्य (स्थविरकृत) का प्रामाण्य उसके अंगानुगत होने पर है। वर्तमान में जिसे उपांग-साहित्य कहा जा सकता है, वह सब अंग-बाह्य में सन्निविष्ट है। उसका प्रामाण्य अंगानुगतता पर है, स्वतन्त्र नहीं।

फिर बारह ग्रन्थों को उपांगों के रूप में लिये जाने के पीछे कोई विशेष उपयोगितावादी, सार्थकतावादी दृष्टिकोण रहा हो, यह स्पष्ट भाषित नहीं होता।

वेद के सहायक अंग तथा उपांग ग्रन्थों की तरह जैन मनीषियों का भी अपने कुछ महत्वपूर्ण अंग-बाह्य ग्रन्थों को उपांग दे देने का विचार हुआ हो। क्रम-सज्जा, नाम-सौष्ठव आदि के अतिरिक्त इसके मूल में कुछ और भी रहा हो, यह गवेष्य है, क्योंकि हमारे समक्ष स्पष्ट नहीं है। उपांगों (जैन श्रुतोपांगों) के विषय में ये विकीर्ण जैसे विचार हैं। जैन मनीषियों पर इनके सन्दर्भ में विशेष रूप से चिन्तन और गवेषणा का दायित्व है।

१. उववाइय (ओववाइय) (ओपपातिक)

औपपातिक का अर्थ

उपपात का अर्थ प्रादुर्भाव या जन्मान्तर-संक्रमण है। उपपात ऊर्ध्वगमन या सिद्धि-गमन (सिद्धत्व-प्राप्ति) के लिये भी व्यवहृत हुआ है। इस अंग में नरक व स्वर्ग में उत्पन्न होने वालों तथा सिद्धि प्राप्त करने वालों का वर्णन है, इसलिए यह औपपातिक है। यह पहला उपांग है।[१]

नाना परिणामों, विचारों, भावनाओं तथा साधनाओं से भवान्तर प्राप्त करने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इस आगम में हृदयग्राही विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें नगर, उद्यान, वृक्ष, पृथ्वीशिला, राजा, रानी, मनुष्य-परिषद्, देव-परिषद्, भगवान् महावीर के गुण, साधुओं की उपमाएँ, तप के ३५४ भेद, केवलि-समुद्घात, सिद्ध, सिद्ध-सुख आदि के विशद वर्णन प्राप्त होते हैं। अन्य (श्रुत) ग्रन्थों में इसी ग्रन्थ का उल्लेख कर यहां से परिज्ञात करने का संकेत कर

---

१. उपपतनमुपपातो देवनारकजन्मसिद्धिगमनं चातस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकमिदं चोपांग वर्तते।

—अभिधान राजेन्द्र; तृतीय भाग, पृ० १०

उन्हें वर्णित नहीं किया गया है। श्रुत-वाङ्मय में वर्णनात्मक शैली की रचनाओं में यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

२. रायपसेणीअ (राज प्रश्नीय)

देव-अधिकार, देव-विमान-अधिकार, देव-ऋद्धि-अधिकार, परदेसी राजा अधिकार तथा दृढ़प्रतिज्ञकुमार अधिकार नामक पांच अधिकारों में यह आगम विभक्त है। प्रथम तीन अधिकारों में सूर्याभ देव का, चतुर्थ अधिकार में परदेशी राजा का तथा पंचम में दृढ़प्रतिज्ञ कुमार का वर्णन है।

गणधर गौतम द्वारा महा समृद्धि, विपुल वैभव, अनुपम दीप्ति, कान्ति और शोभा-सम्पन्न सूर्याभदेव का पूर्व-भव पूछे जाने पर भगवान् महावीर उन्हें उसका पूर्व-भव बतलाते हुए कहते हैं कि, यह पूर्व-भव में राजा परदेशी था। यहीं से राजा परदेशी का वृत्तान्त प्रारम्भ हो जाता है, जो इस सूत्र का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग है। राजा परदेशी अनात्मवादी या जड़वादी था। उसका भगवान् पार्श्व के प्रमुख शिष्य केशीकुमार के सम्पर्क में आने का प्रसंग बनता है। अनात्मवाद और आत्मवाद के सन्दर्भ में विस्तृत वार्तालाप होता है। राजा परदेशी अनात्मवादी, अपुनर्जन्मवादी तथा जड़वादी दृष्टिकोण को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित करता है, तर्क प्रस्तुत करता है। श्रमण केशीकुमार युक्ति और न्यायपूर्वक विस्तार से उसका समाधान करते हैं। राजा परदेशी सत्य को स्वीकार कर लेता है और श्रमणोपासक बन जाता है। धर्माराधना पूर्वक जीवन-यापन करने लगता है। रानी द्वारा विष-प्रयोग, राजा द्वारा किसी भी तरह से विक्षिप्त और विक्षुब्ध भाव के बिना आमरण अनशन पूर्वक प्राण-त्याग के साथ यह अधिकार समाप्त हो जाता है।

आत्मवाद तथा जड़वाद की प्राचीन परम्पराओं और विमर्श-पद्धतियों के अध्ययन की दृष्टि से इस सूत्र का यह भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गणधर गौतम के पूछे जाने पर भगवान् महावीर ने यह बताया कि सूर्याभदेव अपने अग्रिम जन्म में दृढ़प्रतिज्ञकुमार

होगा। इस प्रकार अन्तिम अधिकार में भविष्यमाण जीवन-वृत्त का उल्लेख है।

सूर्याभदेव के विशाल, सुन्दर, समृद्ध और सर्वविध सुविधापूर्ण सुसज्ज विमान की रचना आदि के प्रसंग में जो वर्णन आया है, वहां तोरण, शालभंजिका, स्तम्भ, वेदिका सुप्रतिष्ठक, फलक, करण्डक, सूचिका, प्रेक्षागृह, वाद्य, अभिनय आदि शब्द भी प्राप्त होते हैं। वास्तव में प्राचीन स्थापत्य, संगीत आदि के परिशीलन की दृष्टि से यह प्रसंग महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर के समक्ष देवकुमारों तथा देवकुमारियों द्वारा बत्तीस प्रकार के नाटक प्रदर्शित किये जाने का प्रसंग प्राचीन नृत्त,[1] नृत्य[2] और नाट्य आदि के सन्दर्भ में एक विश्लेषणीय और विवेचनीय विषय है।

नन्दी-सूत्र में रायपसेणिय शब्द आया है। आचार्य मलयगिरि ने इस नाम को रायपसेणीअ माना है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसके लिये रायपसेणइय का प्रयोग किया है। इस सूत्र के प्रधान पात्र या कथा-नायक के सम्बन्ध में एकमत्य नहीं है। उस मतद्वैध का आधार यह नाम भी बना है। परम्परा से राजा परदेशी इस सूत्र के कथानक का मुख्य पात्र है। पर, डा० विण्टरनित्ज के मतानुसार मूलतः इस आगम में कोशल के इतिहास-प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् की कथा थी। बाद में उसे राजा परदेशी से जोड़ने का प्रयत्न हुआ।

रायपसेणीअ तथा रायपसेणइय शब्दों का सम्बन्ध तो राजा प्रसेनजित् से जुड़ता है, पर, वर्तमान में प्राप्त कथानक का सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से राजा प्रसेनजित् से जोड़ना सम्भव प्रतीत नहीं होता। यह सारा कथा-क्रम कैसे परिवर्तित हुआ, क्या-क्या स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, कुछ कहा जाना शक्य नहीं है। इसलिए जब तक परिपुष्ट

१. नृत्त तालमयाश्रयम्। ताल से मात्रा और लय से द्रुत, मध्य तथा मन्द। जैसे लोक-नृत्य, भीलों का गरबा।

२. भावाश्रय नृत्यम्। नृत्य में गात्र-विक्षेप से भाव-व्यंजना। जैसे, भरतनाट्यम्, कथक-नृत्य, उदयशंकर के नृत्य। विशेष—नृत्त और नृत्य के दो-दो भेद हैं—लास्य-मधुर, ताण्डव-उद्धत।

प्रमाण न मिले, तब तक केवल नाम-साँगत्य कोई ठोस आधार नहीं माना जा सकता।

इस आगम की उल्लेखनीय विशेषता है, राजा प्रदेशी के अनघड़ प्रश्न और केशीकुमार श्रमण के मंजे-मंजाये उत्तर। राजा प्रदेशी कहता है—"भदन्त ! मैंने एक वार आत्म-स्वरूप को समझने, साक्षात् देखने के लिए प्रयोग किया। एक जीवित चोर के दो टुकड़े किये, पर, आत्मा कहीं दिखाई नहीं पड़ी। दो के चार, चार के आठ, इस तरह मैं उसके शरीर का खण्ड-खण्ड करते ही गया, पर आत्मा कहीं नहीं मिली। आत्मा यदि शरीर से भिन्न तत्त्व हो, तो अवश्य वह पकड़ में आती।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! तू कठियारे की तरह मूर्ख है। चार कठियारों ने वन में जाकर एक को रसोई का काम सौंपा। तीन लकड़ियां काटने में लगे। अग्नि के लिए उसे 'अरणी' की लकड़ी दे गये। रसोई के लिए स्थित कठियारे को यह मालूम नहीं था कि अरणी का घर्षण कर के कैसे अग्नि उत्पन्न की जाती है। उसने भी अग्नि प्रकट करने के लिए 'अरणी' पर कुठार मारा। दो, चार, छह टुकड़े करता ही गया। चूर्ण कर दिया। पर अग्नि कहां ? हताश बैठा रहा। रसोई न बना सका। तीनों कठियारे वापिस आये। वस्तु स्थिति से अवगत होकर बोले · बड़ा मूर्ख है तू, ऐसे भी कभी अग्नि प्रकट होती है ? देख, एक चतुर कठियारे ने तत्काल यथाविधि घर्षण कर उसे अग्नि प्रकट कर दिखाई। राजन् ! तू भी क्या कठियारे जैसा मूर्ख नहीं है ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! मैं तो मूर्ख कठियारे जैसा हूं, पर आप तो चतुर कठियारे जैसे हैं। उसने जैसे अग्नि प्रकट कर बताई, आप भी आत्मा को प्रकट कर बतायें।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! इसी उद्यान में हिलते हुए वृक्षों को देख रहे हो ?"

प्रदेशी—"हां, भन्ते !"

केशीकुमार श्रमण—"यह भी बताओ, इन्हें कौन हिला रहा है ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! पवन।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! तुम क्या देख रहे हो कि पवन कैसा है, उसका वर्ण, आकार कैसा है ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! पवन देखने का विषय नहीं, वह तो अनुभूति का विषय है।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! आत्मा भी देखने का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। वह चेतना, अनुभूति, ज्ञान आदि अपने गुणों से अनुभूत होती है।"

प्रदेशी—"भन्ते ! आपकी प्रज्ञा प्रबल है। आपने मुझे निरुत्तर किया है, पर, इस विषय में मेरे अन्य प्रश्न हैं।"

प्रदेशी व केशीकुमार श्रमण के प्रश्नोत्तरों का इस प्रकार एक प्रलम्ब क्रम इस आगम में है। अन्त में प्रदेशी राजा प्रतिबुद्ध होता है, पर आर्हत्-धर्म को स्वीकार करना नहीं चाहता। तब उसे लोह वणिक् के उदाहरण से समझाया जाता है। केशीकुमार श्रमण कहते हैं—"राजन् ! तुम तो वैसे ही मूर्ख निकले, जैसे लोह वणिक् था।"

प्रदेशी—"भन्ते ! उसने क्या मूर्खता की ?"

केशीकुमार श्रमण—"चार वणिक् देशान्तर के लिए निकले। अरण्य में जाते हुए क्रमशः लोहा, चांदी, सोना व रत्नों की खानें आईं। तीन वणिकों ने लोह के बदले चांदी, चांदी के बदले सोना, सोने के बदले रत्न उठा लिये। एक वणिक् लोहा ही उठाये चलता रहा। कहा, तो भी न माना। अपनी नगरी में लौटने के पश्चात् तीनों वणिक् श्रीमन्त हो गये। वह लोहा बेचकर चने बेचने की फेरी लगाने लगा। कालान्तर से जब उसने अपने तीन साथियों का वैभव देखा, अपनी भूल पर रो-रोकर पछताने लगा। राजन् ! अर्हत्-धर्म रूप रत्नों को स्वीकार नहीं करके कालान्तर में लोह वणिक् की तरह तुम भी पछताओगे।

प्रस्तुत आगम में आस्तिकता-नास्तिकता जैसे दुर्गम प्रश्न को सरल व सुगम रूप से सुलझाया गया है। प्रदेशी राजा अर्हद्-धर्म

की हुई मदिरा), पत्र निर्याससार, पुष्पनिर्याससार, चोयनिर्याससार, वहुत द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई, सन्ध्या के समय तैयार हो जाने वाली, मधु, मेरक, रिष्ट नामक रत्न के समान वर्णवाली (इसे जंबूफलकालिका भी कहा गया है), दुग्ध जाति (पीने में दूध के समान स्वादिष्ट), प्रसन्ना, नेल्लक (अथवा तल्लक), शतायु (सौ वार शुद्ध करने पर भी जैसी की तैसी रहने वाली), खर्जूरसार, मृद्वीकासार (द्राक्षासव), कापिशायन, सुपक्व, क्षोदरस (ईख के रस को पकाकर वनाई हुई) ।

पात्र—वारक (मंगल घट), घट, करक, कलश, कक्करी, पादकांचनिका (जिससे पैर धोये जाते हों), उदंक (जिससे जल का छिड़काव किया जावे), वद्धणी (वार्धनी–गलंतिका–छोटी कलसी जिसमें से पानी रह-रह कर टपकता हो), सुपविट्ठर (पुष्प रखने का पात्र), पारी (दूध दोहने का पात्र), चषक (सुरा पीने का पात्र), भृंगार, (झारी), करोडी (करोटिका), सरग (मदिरापात्र), धरग, पात्रीस्थाल, णत्थग, (नल्लक), चवलिय (चपलित), अवपदय ।

आभूषण—हार (जिसमें अठारह लड़ियां हों), अर्धहार (जिसमें नौ लड़ियां हों), वट्टणग (वेस्टनक, कानों का आभूषण), मुकुट, कुण्डल, वामुत्तग (व्यामुक्तक, लटकने वाला गहना), हेमजाल (छेद वाला सोने का आभूषण) , मणिजाल, कनकजाल, सूत्रक (वैकक्षक कृत), सुवर्ण सूत्र (यज्ञोपवीत की तरह पहना जाने वाला आभूषण), उचियकडग (उचितकटिकानि—योग्यवलयानि), खुड्डग (एक प्रकार की अंगूठी), एकावली, कण्ठसूत्र, मगरिय (मकर के आकार का आभूषण), उरत्थ (वक्षस्थल पर पहनने का आभूषण), ग्रैवेयक, (ग्रीवा का आभूषण), श्रोणिसूत्र (कटिसूत्र), चूडामणि, कनकतिलक, फुल्ल, (फूल), सिद्धार्थक (सोने की कण्ठी), कण्णवाली (कानों की वालि), शशि, सूर्य, वृषभ, चक्क, (चक्र), तलभंग (हाथ का आभूषण), तुडिय (बाहु का आभूषण), हत्थमालग (हस्तमालक), वलक्ष (गले का आभूषण), दीनारमालिका, चन्द्रसूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्ब, (झूमका), अंगुलीयक (अंगूठी), कांची, मेखला, पयरग

(प्रतर), पादजाल (पैरों का आभूषण), घंटिका, किंकिणी, रयणोरुजाल (रत्नोरुजाल), नूपुर, चरणमालिका, कनकनिकरमालिका।

भवन—प्राकार, अट्टालग (अटारी), चरिय (गृह और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर, प्रासाद, आकाशतल, मण्डप, एकशाला (एक घरवाला मकान), द्विशाला, त्रिशाला, चतुःशाला, गर्भगृह, मोहनगृह, वलभीगृह, चित्रशाला, मालक (मजले वाला घर), गोलघर, त्रिकोण घर, चौकोण घर, नंद्यावर्त, पंडुरतलहर्म्य, मुण्डमालहर्म्य (जिसमें शिखर न हो), धवलगृह, अर्धमागध विभ्रम, शैलसंस्थित (पर्वत के आकार का), शैलार्धसंस्थित, कूटागार, सुविधिकोष्ठक, शरण (झोंपड़ी आदि), लयन (गुफा आदि), विडंक (कपोतपाली, प्रासाद के अग्रभाग में कबूतरों के रहने का स्थान, कबूतरों का दरबा) जालवृन्द (गवाक्षसमूह), निर्यूह (खूँटी अथवा द्वार), अपवरक (भीतर का कमरा), दोवाली, चन्द्रशालिका।

वस्त्र—आजिनक (चमड़े का वस्त्र), क्षौम, कम्बल, दुकूल, कौशेय, कालमृग के चर्म से बना वस्त्र, पट्ट, चीनांशुक, आभरणचित्र (आभूषणों से चित्रित), सहिणगकल्लाणग (सूक्ष्म और सुन्दर वस्त्र) तथा सिन्धु, द्रविड, वंग, कलिंग आदि देशों में बने वस्त्र।

मिष्टान्न—गुड, खांड, शक्कर, मत्स्यण्डी (मिसरी), बिसकंद, पर्पटमोदक, पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर, गोक्षीर।

ग्राम—ग्राम, नगर, निगम (जहां बहुत से वणिक् रहते हों), खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी का परकोटा बना हो), कर्बट (जो चारों ओर से पर्वत से घिरा हो), मडंब (जिसके चारों ओर पांच कोस तक कोई ग्राम न हो), पट्टण (जहां विविध देशों से माल आता हो), द्रोणमुख (जहां अधिकतर जलमार्ग से आते-जाते हों), आकर (जहाँ लोहे आदि की खानें हों), आश्रम, संबाध (जहां यात्रा के लिए बहुत से लोग आते हों), राजधानी, सन्निवेश (जहां सार्थ आकर उतरते हों)।

राजा—राजा, युवराज, ईश्वर (अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सम्पन्न), तलवर (नगर रक्षक, कोतवाल), माडम्बिय (मडम्ब के

नायक), कौटुम्बिक (अनेक कुटुम्बों के आश्रयदाता, राजसेवक), इभ्य (प्रचुर धन के स्वामी), श्रेष्ठी (जिनके मस्तक पर देवता की मूर्ति सहित सुवर्ण पट्ट बंधा हो), सेनापति, सार्थवाह (सार्थ का नेता)।

दास—दास (आमरण दास), प्रेष्य (जो किसी काम के लिए भेजे जा सकें), शिष्य, भृतक (जो वेतन लेकर काम करते हों), भाइल्लग (भागीदार), कर्मकर।

त्यौहार—आवाह (विवाह के पूर्व ताम्बूल इत्यादि देना), विवाह, यज्ञ (प्रतिदिन इष्ट देवता की पूजा), श्राद्ध, थालीपाक (गृहस्थ का धार्मिक कृत्य), चेलोपनयन, (मुण्डन), सीमंतोन्नयन (गर्भ स्थापना), मृतपिंडनिवेदन।

उत्सव—इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, शिवमह, वैश्रमणमह, मुकुन्दमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, कूपमह, तडागमह, नदीमह, ह्रदमह, पर्वतमह, वृक्षारोपणमह, चैत्यमह, स्तूपमह।

नट—नट (बाजीगर), नर्तक, मल्ल (पहलवान), मौष्टिक (मुष्टि युद्ध करने वाले), विडम्बक (विदूषक), कहग (कथाकार), प्लवग (कूदने-फांदने वाले), आख्यायक, लाक्षक (रास गाने वाले), लंख (बांस के उपर चढ़कर खेल करने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भिक्षा मांगने वाले), तूण बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, कावण (बहंगी ले जाने वाले), मागध, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले)।

यान—शकट, रथ, यान (गाड़ी), जुग्ग (गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ प्रमाण चौकोर वेदी से युक्त पालकी, जिसे दो आदमी ढ़ोकर ले जाते हों), गिल्ली (हाथी के उपर की अम्बारी, जिसमें बैठने से आदमी दिखाई नहीं देता), थिल्ली (लाट देश में घोड़े के जीन को थिल्ली कहते हैं, कहीं दो खच्चरों की गाड़ी को थिल्ली कहा जाता है), सिविका (शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी), स्यन्दमानी (पुरुष प्रमाण लम्बी पालकी)।

व्याख्या साहित्य

आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीका की रचना की। उन्होंने इस आगम के अनेक स्थानों पर वाचना-भेद होने का उल्लेख किया

है। साथ-साथ यह भी सूचित किया है कि इसके सूत्र विच्छिन्न हो गये। आचार्य हरिभद्र तथा देवसूरि द्वारा लघु-वृत्तियों की रचना की गई। एक अप्रकाशित चूर्णि भी बतलाई जाती है।

४. पन्नवणा (प्रज्ञापना)

नाम : अर्थ

प्रज्ञापना का अर्थ बतलाना, सिखलाना या ज्ञापित करना है। इस उपांग का नाम वस्तुतः अन्वर्थक है। यह जैन तत्त्व ज्ञान का उत्कृष्ट उद्बोधक ग्रन्थ है। यह प्रज्ञापना, स्थान, बहु-वक्तव्य, क्षेत्र, स्थिति, पर्याय, श्वासोच्छ्वास, संज्ञा, योनि, भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, काय-स्थिति, दृष्टि, क्रिया, कर्म-बन्ध, कर्म-स्थिति, कर्म-वेदना, कर्म-प्रकृति, आहार, उपयोग, संज्ञी, अवधि, परिचारणा, वेदना-परिणाम, समुद्घात प्रभृति छत्तीस पदों में विभक्त है।

पदों के नाम से स्पष्ट है कि इसमें जैन सिद्धान्त के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर विवेचन हुआ है, जो तत्त्वज्ञान के परिशीलन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उपांगों में यह सर्वाधिक विशाल है। अंगों में जो स्थान व्याख्याप्रज्ञप्ति का है, उपांगों में वैसा ही स्थान इस आगम का है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की तरह इसे भी जैन तत्त्वज्ञान का बृहत् कोश कहा जा सकता है।

रचना

ऐसा माना जाता है कि वाचकवंशीय आर्य श्याम ने इसकी रचना की। वे अंगात पूर्वधर माने जाते थे। अज्ञातकर्तृक दो गाथायें[१] प्राप्त होती हैं, जिनसे ये तथ्य पुष्ट होते हैं। उनका आशय

१. वायगवरवंसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीए।
सुयसागरविणेऊण, जेण सुयरयणमुत्तम दिण्णं।
सीसगणस्स भगवओ, तस्स णमो अज्जसामस्स॥
—अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम भाग, पृ. २,

इस प्रकार है : "वाचकवंशीय, आर्य सुधर्मा की तेवीसवीं पीढ़ी में स्थित, धैर्यशील, पूर्वश्रुत में समृद्ध, बुद्धि-सम्पन्न आर्य श्याम को वन्दन करते हैं जिन्होंने श्रुत-ज्ञान रूपी सागर में से अपने शिष्यों को यह (प्रज्ञापना) श्रुत-रत्न प्रदान किया।"

आर्य श्याम के आर्य सुधर्मा से तेवीसवीं पीढ़ी में होने का जो उल्लेख किया है, वह किस स्थविरावली या पट्टावली के आधार पर किया गया है, ज्ञात नहीं होता। नन्दी-सूत्र में वर्णित स्थविरावली में श्याम नामक आचार्य का उल्लेख तो है, पर वे सुधर्मा से प्रारम्भ होने वाली पट्टावली में बारहवें होते है।[1] तेवीसवें स्थान पर वहां ब्रह्मदीपकसिंह नामक आचार्य का उल्लेख है। उन्हें कालिक श्रुत तथा चारों अनुयोगों का धारक व उत्तम वाचक-पदप्राप्त[2] कहा है। कल्पसूत्र की स्थविरावली से आर्य श्याम की क्रमिक संख्या मेल नहीं खाती।

रचना का आधार : एक कल्पना

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में लेखक की ओर से स्तवनात्मक दो गाथायें हैं, जो महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं : "सूत्र-रत्नों के निधान, भव्यजनों के लिए निर्वृतिकारक भगवान् महावीर ने सब जीवों के भावों की प्रज्ञापना उपदिष्ट की। भगवान् ने दृष्टिवाद से निर्झरित,

---

१. सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा॥
जसभद्दं तुंगीयं वंदे संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसियगोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे॥
हारियगोत्तं सायं च, वंदे मोहारियं च सामज्जं।

—नन्दीसूत्र स्थविरावली; गाथा २५-२८

२. अयलपुरम्मि भेत्ते, कालियसुय अणुगए धीरे।
बम्हद्दीवगसीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते॥

—नन्दीसूत्र, स्थविरावली : गाथा ३६

विविध अध्ययनयुक्त इस श्रुत-रत्न का जिस प्रकार विवेचन किया है, मैं भी उसी प्रकार करूंगा।[1]

इन गाथाओं में प्रयुक्त 'दिट्ठिवायणीसंद' पद पर विशेष गौर करना होगा। दृष्टिवाद व्युच्छिन्न माना जाता है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् उसके सम्पूर्ण वेत्ताओं की परम्परा मिट गई। पर, अंशतः वह रहा। श्यामार्य के सम्बन्ध में जिन दो वन्दन-मूलक गाथाओं की चर्चा की गई है, वहां उन्हें पूर्व-ज्ञान से युक्त भी कहा गया है। सम्भवतः आर्य श्याम आंशिक दृष्ट्या पूर्वज्ञ रहे हों। हो सकता है, इसी अभिप्रायः से उन्होंने यहां दृष्टिवाद-निस्यन्द शब्द जोड़ा हो, जिसका आशय रहा हो कि दृष्टिवाद के मुख्यतम भाग पूर्व-ज्ञान से इसे गृहीत किया गया है।

प्रस्तुत आगम में वर्णित वनस्पति आदि के भेद-प्रभेद बहुत ही विस्तृत व विशेष हैं। भेद-प्रभेदों के इसी क्रम में म्लेच्छों व आर्यों का भी उल्लेखनीय चित्रण है।

म्लेच्छ–

शक, यवन, चिलात (किरात), शबर, बर्बर, मरुंड, उड्ड (ओड्), भडग, निण्णग, पक्कणिय, कुलक्ख, गोंड, सिंहल, पारस, गोध, कोंच, अंध, दमिल (द्रविड़), चिल्लल, पुलिंद, हरोस, डोब, वोक्काण, गंधहारग, वहलीक, उज्झल (जल्ल), रोमपास, बकुश, मलय, बंधुय, सूयलि, कोंकणग, मेय, पह्लव, मालव, मग्गर, आभासिय, णक्क, चीण, लासिक, खस, खासिय, नेट्ठुर, मोंढ, डोंबिलग, लओस, पओस, केक्कय, अक्खाग, हूण, रोमक, रुरु, मरय आदि।

आर्य

आर्य दो प्रकार के होते हैं—ऋद्धि-प्राप्त और अनृद्धि-प्राप्त। ऋद्धि प्राप्त—अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्या-

---

1. सुयरयणनिहाणं, जिणवरेण भवियजणनिव्वुइकरेण।
   उवदंसिया भगवया, पण्णवणा सव्वभावाणं॥
   अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
   जहवण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि॥

—प्रज्ञापना: मंगलाचरण, २, ३

घर। अनृद्धि प्राप्त नौ प्रकार के होते हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य।

क्षेत्रार्य—साढ़े पच्चीस (२५½) देश में माने जाते हैं :

जनपद	राजधानी
१. मगध	राजगृह
२. अंग	चम्पा
३. वंग	ताम्रलिप्ति
४. कलिंग	कांचनपुर
५. काशी	वाराणसी
६. कोशल	साकेत
७. कुरु	गजपुर
८. कुशावर्त	शौरिपुर
९. पांचाल	कांपिल्यपुर
१०. जांगल	अहिच्छत्रा
११. सौराष्ट्र	द्वारवती
१२. विदेह	मिथिला
१३. वत्स	कौशाम्बी
१४. शाण्डिल्य	नन्दिपुर
१५. मलय	भद्रिलपुर
१६. मत्स्य	वैराट
१७. वरणा	अच्छा
१८. दशार्ण	मृत्तिकावती
१९. चेदि	शुक्ति
२०. सिन्धुसौवीर	वीतिभय
२१. शूरसेन	मथुरा
२२. भंगि	पापा
२३. वट्टा (?)	मासपुरी (?)
२४. कुणाल	श्रावस्ती
२५. लाट	कोटिवर्ष
२५½ केकयार्ध	श्वेतिका

आर्यार्य—अंबष्ठ, कलिंद, विदेह, वेदग, हरित, चुंचुण (या चुंचुण)।

कुलार्य—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव।

कर्मार्य—दौष्यिक (कपड़े बेचने वाले), सौत्रिक (सूत बेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले), सूत्रवैकालिक, भाण्डवैकालिक, कोलालिय (कुम्हार), नरवाहनिक (पालकी आदि उठाने वाले)।

शिल्पार्य—तुन्नाग (रफू करने वाले), तन्तुवाय (बुनने वाले), पटकार (पटवा), देयड़ा (दृतिकार, मशक बनाने वाले), काष्ठपादुकाकार (लकड़ी की पादुका बनाने वाले), मञ्जुपादुकाकार, छत्रकार, वज्झार (वाहन करने वाले), पोत्थकार (पूंछ के बालों से झाड़ू आदि बेचने वाले, अथवा मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्यकार, चित्रकार, शंखकार, दंतकार, भांडकार, जिज्झगार, सेल्लगार (भाला बनाने वाले), कोड्डिगार (कौड़ियों की माला बनाने वाले)।

भाषार्य—अर्धमागधी भाषा बोलने वाले।

ब्राह्मी लिपी लिखने के प्रकार—ब्राह्मी, यवनानी, दोसापुरिया, खरोष्ट्री, पुक्खरसारिया, भोगवती, पहराइया अंतक्खरिया, (अंताक्षरी), अक्खरपुट्ठिया, वैनयिकी, निह्नविकी, अंकलिपि, गणितलिपि, आदर्शलिपि, माहेश्वरी, दोमिलिपि (द्राविड़ी), पौलिन्दी।

ज्ञानार्य पांच प्रकार के हैं—आभिनिबोधिक, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

दर्शनार्य—सरागदर्शन, वीतराग दर्शन। सराग दर्शन—निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि, धर्म रुचि। वीतराग दर्शन—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय।

चारित्रार्य—सराग चारित्र, वीतराग चारित्र। सराग चारित्र—सूक्ष्मसम्पराय, बादर सम्पराय। वीतराग चारित्र—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय। अथवा चारित्रार्य पांच होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थान, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात चारित्र।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रदेशाख्या लघुवृत्ति की रचना की है। आचार्य मलयगिरि ने उसी के आधार पर टीका की रचना की। कुलमण्डन ने अवचूरि लिखी।

व्याख्याकारों ने इस आगम में समागत पाठ-भेदों का भी उल्लेख किया है। अनेक स्थलों पर कतिपय शब्दों को अव्याख्येय मानते हुए टीकाकार ने उन्हें सम्प्रदायगम्य कहकर छोड़ दिया है। सम्भव है, वे शब्द स्पष्टार्थ-द्योतक नहीं प्रतीत हुए हों; अतः आम्नाय या परम्परा से समझ लेने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता था ? प्रज्ञापना का ग्यारहवां पद भाषा-पद है। उपाध्याय यशोविजयजी ने इसका विवेचन किया है।

५. सूरियपन्नत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)

द्विसूर्यसिद्धान्त, सूर्य के उदय, अस्त, आकार, ओज, गति आदि का विस्तार से वर्णन है, जिससे इसके नाम की अन्वर्थकता प्रकट होती है। साथ ही साथ चन्द्र, अन्यान्य नक्षत्र आदि के आकार, गति, अवस्थिति आदि का भी विशद विवेचन है। बीस प्राभृतों में विभक्त यह ग्रन्थ एक सौ आठ सूत्रों में सन्निविष्ट है। प्राभृत प्राकृत के 'पाहुड' शब्द का संस्कृत-रूपान्तर है।

प्राभृत का अर्थ

अनेक ग्रन्थों के अध्याय या प्रकरण के अर्थ में प्राभृत शब्द प्रयुक्त पाया जाता है। इसका शाब्दिक तात्पर्य उपहार, भेंट या समर्पण है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसकी व्याख्या इस प्रकार है: "अपने अभीष्ट—प्रिय जन को जो परिणाम-सरस, देश-कालोचित दुर्लभ वस्तु दी जाती है और जिससे प्रिय जन की चित्त-प्रसन्नता सम्पादित की जाती है, लोक में उसे प्राभृत कहा जाता है।"[1]

1. प्राभृतम्—इह प्राभृतं नाम लोके प्रसिद्धं यदभीष्टाय पुरुषाय देश-कालोचितं दुर्लभं वस्तु परिणामसुन्दरमुपनीयते ततः प्राभ्रियते प्राप्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतमिति व्युत्पत्तेः।

—अभिधान राजेन्द्र; पंचम भाग; पृ. ६१४

ग्रन्थ के प्रकरण के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या इस प्रकार है : "अपने प्रिय तथा विनय आदि गुण-युक्त शिष्यों को देश और काल की उचितता के साथ जो ग्रन्थ-सरणियां दी जाती हैं, उन्हें भी प्राभृत कहा जाता है।"[1] शब्द चयन में जैन विद्वानों के मस्तिष्क की उर्वरता इससे स्पष्ट है। प्रकरण के अर्थ में प्राभृत शब्द वास्तव में साहित्यिक सुषमा लिये हुए है।

व्याख्या-साहित्य

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति की रचना की, ऐसा प्रसिद्ध है। पर, वह प्राप्त नहीं है, काल-कवलित हो गई है। आचार्य मलयगिरि की इस पर टीका है। वास्तव में यह ग्रन्थ इतना दुर्ज्ञेय है कि टीका की सहायता के बिना समझ पाना सरल नहीं है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से सम्बद्ध अपने विशेष प्रकार के विश्लेषण के कारण यह ग्रन्थ विद्वज्जगत् में आकर्षण का केन्द्र रहा है। प्रो० वेबर ने जर्मन भाषा में इस पर एक निबन्ध लिखा, जो सन् १८६८ में प्रकाशित हुआ। सुना जाता है, डा० आर० शाम शास्त्री ने इसका A Brief Translation of Mahavira's Suryaprajnapti के नाम से अंग्रेजी में संक्षिप्त अनुवाद किया था। पर, वह भी अप्राप्य है। डा० थीबो ने सूर्यप्रज्ञप्ति पर लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने जैनों के द्विसूर्य और द्विचन्द्रवाद की भी चर्चा की थी। उनके अनुसार यूनान के लोगों में उनके भारत आने के पूर्व यह सिद्धान्त सर्व स्वीकृत था। Journal of The Asiatic Society of Bengal, Vol. no 49, P. 107 में वह लेख प्रकाशित हुआ था।

६. जम्बूद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

जम्बूद्वीप से सम्बद्ध इस उपांग में अनेकविध वर्णन है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध चार वक्षस्कारों तथा उत्तरार्द्ध तीन वक्षस्कारों में विभक्त है। समग्र उपांग में १७६ सूत्र हैं।

---

1. विवक्षिता अपि च ग्रन्थपद्धतयः परमदुर्मेधा परिणामसुन्दराचार्य-भीष्टेभ्यो विनयादिगुणकलितेभ्यः शिष्येभ्यो देशकालौचित्येनोपनीयन्ते।
—अभिधान राजेन्द्र; पञ्चम भाग, पृ. ६१४.

वक्षस्कार का तात्पर्य

वक्षस्कार का अर्थ यहां प्रकरण को बोधित कराता है। पर, वास्तव में जम्बूद्वीप में इस नाम के प्रमुख पर्वत हैं, जिनका जैन भूगोल में कई अपेक्षाओं से बड़ा महत्व है। जम्बूद्वीप से सम्बद्ध विवेचन के सन्दर्भ में ग्रन्थकार, प्रकरण का अवबोध कराने के हेतु वक्षस्कार का जो प्रयोग करते हैं; वह सर्वथा संगत है। जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र आदि का इस उपांग में विस्तृत वर्णन है। उनके सन्दर्भ में अनेक दुर्गम स्थल, पहाड़, नदी, गुफा, जंगल आदि की चर्चा है।

जैन काल-चक्र-अवसर्पिणी-सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषम-दुःषमा, दुःषम-सुषमा, दुःषमा, दुःषम-दुःषमा, तथा उत्सर्पिणी—दुःषम-दुःषमा, दुःषमा, दुःषम-सुषमा, सुषम-दुःषमा, सुषमा, सुषम-सुषमा का सविस्तार वर्णन है। उस सन्दर्भ में चौदह कुलकर आदि, तीर्थंकर ऋषभ, बहत्तर कलायें, स्त्रियों के लिये विशेषतः चौसठ कलायें तथा अनेक शिल्प आदि की चर्चा है। इस कोटि का और भी महत्वपूर्ण वर्णन है। जैन भूगोल तथा प्रागितिहास-कालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का विशेष महत्व है।

७. चन्दपन्नत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)

स्थानांग में उल्लेख

स्थानांग सूत्र[1] में सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के साथ चन्द्रप्रज्ञप्ति का भी अंग बाह्य के रूप में उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति दोनों प्राचीन हैं। दोनों कभी पृथक्-पृथक् थे, दोनों के अपने-अपने विषय थे।

वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति का जो संस्करण प्राप्त है, वह सूर्यप्रज्ञप्ति से सर्वथा—अक्षरशः मिलता है। भेद है तो केवल मंगलाचरण तथा ग्रन्थ में निर्वर्णित बीस प्राभृतों का संक्षेप में वर्णन करने वाली अठारह गाथाओं का। चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में ये गाथायें हैं।

---

१. चत्तारि पण्णत्तीओ अंगबाहिरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चंदपण्णत्ती, सूरपण्णत्ती, जंबुद्दीवपण्णत्ती, दीवसागरपण्णत्ती।

—स्थानांग सूत्र; स्थान ४, १, २७

तत्पश्चात् क्रम-निर्दिष्ट विषय प्रारम्भ होता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में ये गाथायें नहीं हैं अर्थात् मंगलाचरण तथा विवक्षित विषय-सूचन के बिना ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है, जो आद्योपान्त चन्द्रप्रज्ञप्ति जैसा है। वास्तव में यदि ये दो ग्रन्थ हैं, तो ऐसा क्यों ? यह एक प्रश्न है, जिसका अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है।

रहस्यमय : एक समाधान

प्रतिपरम्परावादी धार्मिक, जिन्हें स्वीकृत मान्यता की परिधि से बाहर निकल कर जरा भी सोचने का अवकाश नहीं है, सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति के परिपूर्ण पाठ-साम्य को देखते हुए भी आज भी यह मानने को तैयार नहीं होते कि ये दो ग्रंथ नहीं हैं। उनका विचार है कि सूर्य, चन्द्र, कतिपय नक्षत्र आदि की गति, क्रम आदि से सम्बद्ध कई ऐसे विषय हैं, जो प्रवृत्ति एक समान हैं, अत: उनमें तो भेद की कोई बात ही नहीं है। एक जैसे दोनों वर्णन दोनों स्थानों पर लागू होते हैं। अनेक विषय ऐसे हैं, जो दोनों में भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि उनकी शब्दावली एक है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। सामान्यतः प्रचलित अर्थ को ही लोग अधिकांशतः जानते हैं। अप्रचलित अर्थ प्रायः अज्ञात रहता है। बहुत कम व्यक्ति उसे समझते हैं। यहां कुछ ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है।

वास्तव में दोनों उपांगों में प्रयुक्त एक जैसे शब्द भिन्नार्थक हैं। ऐसा किये जाने के पीछे भी एक चिन्तन रहा होगा। बहुत से विषय ऐसे हैं, जिनका उद्‌घाटन सही अधिकारी या उपयुक्त पात्र के समक्ष ही किया जाता है, अनधिकारी या अपात्र के समक्ष नहीं, अतः उन्हें रहस्यमय या गुप्त बनाये रखना आवश्यक होता है। अधिकारी को उन्हीं शब्दों द्वारा वह ज्ञान दे दिया जाता है, जिनका अर्थ सामान्यतः व्यक्त नहीं है। ऐसी ही कुछ स्थिति यहां रही हो, तो आश्चर्य नहीं। कभी परम्परा से इन रहस्यों को जानने वाले विद्वान् रहे होंगे, जो अधिकारी पात्रों के समक्ष उन रहस्यों को प्रकाशित करते रहे हों। पर, वह परम्परा सम्भवतः मिट गई। रहस्य रहस्य ही रह गये। यही कारण है इन दोनों उपांगों के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं। वास्तव में वर्तमान में ज्ञान के अल्पत्व के कारण

ऐसा है। तथ्य यही है, दोनों उपांग, जो वर्तमान में उपलब्ध हैं, यथावत् हैं, अपरिवर्तित हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न ही माना जाना चाहिये।

कहने को स्वीकृत परम्परा के संरक्षण के हेतु जो कुछ कहा जा सकता है, पर, विवेक के साथ उसको यथार्थता का अंकन करने का प्रवुद्ध मानव को अधिकार है। इसलिये यह कहना परम्परा का खण्डन नहीं माना जाना चाहिए कि रहस्यमयता और शब्दों की अनेकार्थकता का सहारा पर्याप्त नहीं है, जो इन दोनों उपाँगों के अनैक्य या असादृश्य को सिद्ध कर सके। अधिक युक्तियां उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञजन उन्मुक्त भाव से चिन्तन करेंगे, तो ऐसा सम्भव प्रतीत होगा कि उनमें से अधिकांश को किसी रहस्यमयता तथा शब्दों के बह्वर्थकता-मूलक समाधान से तुष्टि नहीं होगी। यह मानने में कोई अन्यथाभाव प्रतीत नहीं होना चाहिए कि वर्तमान में उपलब्ध ये दोनों उपांग स्वरूपतः शाब्दिक दृष्टि से एक हैं और तात्पर्यतः भी दो नहीं प्रतीत होते।

एक सम्भावना

हो सकता है, कभी प्राचीन-काल में कहीं किसी ग्रन्थ-भण्डार में सूर्यप्रज्ञप्ति की दो हस्तलिखित प्रतियां पड़ी हों। उनमें से एक प्रति ऊपर के पृष्ठ व उस पर लिखित 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नाम सहित रही हो तथा दूसरी का ऊपर का पत्र—नाम का पत्र नहीं रहा हो, नष्ट हो गया हो, खो गया हो। नामवाली प्रति में भी प्रारम्भ का पत्र, जिसमें मांगलिक व विषयसूचक गाथाओं का उल्लेख था, खोया हुआ हो। [illegible] अब दोनों प्रतियों का स्वरूप इस प्रकार समझा जाना चाहिए। उन दोनों प्रतियों में एक प्रति ऐसी थी, जिसका ऊपर का पृष्ठ था, उस पर ग्रन्थ का नाम था, पर, उसमें गाथायें नहीं थीं। ग्रन्थ का विषय सीधा आरम्भ होता था। गाथाओं का पत्र लुप्त था। दूसरी प्रति उस प्रकार की थी, जिसमें ऊपर का पृष्ठ, ग्रन्थ का नाम नहीं था। ग्रन्थ का प्रारम्भ गाथाओं से होता था। दोनों में केवल भेद इतना सा था, एक गाथाओं से युक्त थी, दूसरी में गाथाएं नहीं थीं, पर, सामान्यतः देखने पर दोनों का प्रारम्भ भिन्न लगता था, इससे इस विषय को नहीं समझने वाले व्यक्ति के लिए असमंजसता हो

सकती थी। किसी व्यक्ति ने भण्डार में ग्रन्थों को व्यवस्थित करने हेतु या सूची बनाने के हेतु ग्रन्थों की छान-बीन की हो। जैन आगमों, उपांगों आदि के पर्यवेक्षण के सन्दर्भ में ये दोनों प्रतियां उसके सामने आयी हों। नाम सहित प्रति के सम्बन्ध में तो उसे कोई कठिनाई नहीं हुई; क्योंकि वह नाम भी स्पष्ट था और ग्रन्थारम्भ भी। ऊपर के पत्र से रहित, बिना नाम की प्रति के सम्बन्ध में उसे कुछ सन्देह हुआ हो, उसने ऊहापोह किया हो। सम्भवतः वह व्यक्ति विद्वान् न रहा हो। भण्डार की व्यवस्था या देख-रेख करने वाला मात्र हो, या ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने वाला साधारण पठित व्यक्ति रहा हो।

ऐसा सम्भव है कि प्रथम प्रति को जिसमें ग्रन्थ-नाम या गाथाएं नहीं थी, प्रकरण प्रारम्भ से चालू होता था, उसने यथावत् रहने दिया। दूसरी प्रति, जिस पर नाम नहीं था, गाथाओं के कारण जो भिन्न ग्रन्थ प्रतीत होता था, के लिए उसने कल्पना की हो कि यह सम्भवतः चन्द्रप्रज्ञप्ति हो और अपनी कल्पनानुसार वैसा नाम लगा दिया हो। वह ग्रन्थ को भीतर से देखता, पर्यवेक्षण करता, पाठ मिलाता, यह सब तो तब होता, जब वह एक अनुसन्धित्सु विद्वान् होता।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का यथार्थ रूप तब तक सम्भवतः नष्ट हो चुका होगा, अन्य भण्डार वाले उसकी सही प्रतिलिपि नहीं रखते हों और उसी प्रति के आधार पर, जिस पर नाम लगवाया गया था, एक ही पाठ के ग्रन्थ दो नामों से चल पड़े हों, चलते रहे हों। [illegible] गयी और एक ही पाठ के दो ग्रन्थ पृथक्-पृथक् माने जाते रहे।

धर्म श्रद्धा भी देता है और विवेक भी। विवेक-शून्य श्रद्धा अन्धानुगमनी कही जाती है। पर, धर्म के क्षेत्र में ऐसा भी होता है, जो [illegible] है, वांछित नहीं। यदि श्रद्धापूर्ण [illegible] के कारण [illegible] इस तथ्य को जानते हुए भी [illegible] क्या होगा? अब लोगों के समक्ष यह स्थिति आई, [illegible] और परम्परा के परिरक्षण के निमित्त [illegible] किया गया है, जिसे [illegible] नहीं, [illegible] समझा जाने लगा।

वर्तमान में दो कहे जाने वाले उपांगों का जो कलेवर है, उसे देखते हुए यह मानने में धर्म की जरा भी विराधना या सम्यक्त्व का हनन नहीं लगता कि एक ही पाठ को दो ग्रन्थों के रूप में स्वीकार करने की बात कुछ और गवेषणा, चिन्तन तथा परिशीलन की मांग करती है, ताकि यथार्थ की उपलब्धि हो सके।

संख्या-क्रम में भिन्नता

उपांगों के संख्या-क्रम में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति की स्थानापन्नता में कुछ भेद है। बत्तीस आगम-ग्रन्थों के प्रथम हिन्दी अनुवादकर्ता श्री अमोलक ऋषि ने जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति को पांचवां, चन्द्र-प्रज्ञप्ति को छठा तथा सूर्य-प्रज्ञप्ति को सातवां उपांग माना है। विण्टरनित्ज का इस सम्बन्ध में अभिमत है कि मूलतः चन्द्र-प्रज्ञप्ति की गणना सूर्यप्रज्ञप्ति से पहिले की जाती रही है। विण्टरनित्ज यह भी मानते हैं कि चन्द्रप्रज्ञप्ति का आज जो रूप है, पहले वैसा नहीं था। उसमें इनसे भिन्न विषय थे। संख्या-क्रम में मैंने पांचवें स्थान पर सूर्यप्रज्ञप्ति; छठे स्थान पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा सातवें स्थान पर चन्द्रप्रज्ञप्ति को लिया है। कारण यह है, जहां तक पता चलता है, सूर्यप्रज्ञप्ति अपने यथावत् रूप में विद्यमान है। अपने नाम के अनुरूप उसमें सूर्य-सम्बन्धी वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। चन्द्र का भी वर्णन है, पर, विस्तार और विविधता में उससे कम। चन्द्रप्रज्ञप्ति का वर्तमान संस्करण स्पष्ट ही मौलिकता की दृष्टि से आलोच्य है; अतः इसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के पश्चात् लिया गया है। आचार्य मलय-गिरि की इस पर टीका है।

पांच निरयावलिया

निरयावलिया (निरयावलिका) में पांच उपांगों का समावेश है, जो इस प्रकार है :

१. निरयावलिया या कप्पिया (कल्पिका)
२. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका)
३. पुप्फिया (पुष्पिका)
४. पुप्फचूलिया (पुष्पचूलिका)
५. वण्हिदसा (वृष्णिदशा)

तीसरे से दसवें तक के अध्ययनों का वर्णन भी केवल इतनी-सी पंक्तियों में है : "शेष आठों अध्ययनों को प्रथम अध्ययन के सदृश समझना चाहिए। पुत्रों और माताओं के नाम एक जैसे हैं। निरयावलिका सूत्र समाप्त होता है।"[1]

६. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका)

कल्पावतंस का अर्थ विमानवासी देव होता है। कल्पावतंसिका शब्द उसी से निष्पन्न हुआ है। इस उपांग में दस अध्ययन है, जिनमें राजा कोणिक के दस पौत्रों के संक्षिप्त कथानक हैं, जो स्वर्गगामी हुए। दस अध्ययनों के नाम चरित-नायक कुमारों के नामों के अनुरूप हैं, जैसे, १.पद्मकुमार-अध्ययन, २ महापद्मकुमार-अध्ययन, ३ भद्र-कुमार-अध्ययन, ४ सुभद्रकुमार-अध्ययन, ५ पद्मभद्रकुमार अध्ययन ६. पद्मसेनकुमार-अध्ययन, ७ पद्मगुल्मकुमार-अध्ययन, ८ नलिनीगुल्मकुमार-अध्ययन, ९, आनन्दकुमार-अध्ययन तथा १0 नन्द-कुमार-अध्ययन।

दसों कुमार निरयावलिका (कल्पिका) में वर्णित राजा श्रेणिक के कालकुमार आदि दसों पुत्रों के क्रमशः पुत्र थे। प्रथम अध्ययन में कालकुमार के पुत्र पद्मकुमार के जन्म, दीक्षा-ग्रहण, स्वर्ग-गमन तथा अन्तत. महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सिद्धत्व प्राप्त करने तक का संक्षेप में लगभग चार-पांच पृष्ठों में वर्णन है। दूसरे अध्ययन में सुकालकुमार के पुत्र महापद्म का संक्षिप्ततम विवरण है। केवल उसके जन्म के वृत्तान्त का पांच-मात्र पंक्तियों में सूचन कर आगे प्रथम अध्ययन की तरह समझ लेने का संकेत किया गया है। तीसरे अध्ययन से

[पूर्व पृष्ठ का शेष]

होत्था सुकुमाले। तत्तेणं से सुकाले कुमारे अन्नयाकयाइ तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा काले कुमारे निरवसेसं तहेव महाविदेहवासे अंतं करेहिति।

—निरयावलिया, द्वितीय अध्ययन, पृ० ६३-६४

१. एवं सेसा वि अट्ठ अज्झयणा, नायव्वा पढम सरिसा, णवर मायाओ सरिसा णामा। णिरयावलीयाओ सम्मत्ताओ।

—निरयावलियाः; समाप्ति-प्रसंग।

दशवें अध्ययन तक की सूचना केवल आधी पंक्ति में यह कहते हुए कि उन्हें प्रथम अध्ययन की तरह समझ लेना चाहिए, दे दी गयी है। साथ-साथ यह भी सूचित किया गया है कि उनकी माताएं उनके सदृश नामों की धारक थीं। अन्त में दशों कुमारों के दीक्षा-पर्याय को भिन्न-भिन्न समयावधि तथा भिन्न-भिन्न देवलोक प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए उपांग का परिसमापन कर दिया गया है। यह उपांग बहुत संक्षिप्त है।

मगध भगवान् महावीर तथा बुद्ध के समय में पूर्व भारत का एक प्रसिद्ध एकतन्त्रीय (एक राजा द्वारा शासित) राज्य था। कल्पिका तथा कल्पावतंसिका प्रागितिहासकालीन समाज की स्थिति जानने की दृष्टि से उपयोगी हैं।

१०. पुप्फिया (पुष्पिका)

प्रस्तुत उपांग में दश अध्ययन हैं, जिनमें ऐसे स्त्री-पुरुषों के कथानक हैं, जो धर्माराधना और तपःसाधना द्वारा स्वर्ग गये। अपने विमानों द्वारा वैभव, समृद्धि एवं सज्जापूर्वक भगवान् महावीर को वन्दन करने आये।

तापस-वर्णन

तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण के कथानक के सन्दर्भ में चालीस प्रकार के तापसों का वर्णन है। उनमें कुछ इस प्रकार हैं:—

(क) केवल एक कमण्डलु धारण करने वाले।
(ख) केवल फलों पर निर्वाह करने वाले।
(ग) एक बार जल में डुबकी लगा कर तत्काल बाहर निकलने वाले।
(घ) बार-बार जल में डुबकी लगाने वाले।
(ङ) जल में ही गले तक डूबे रहने वाले।
(च) सभी वस्त्रों, पात्रों और देह को प्रक्षालित रखने वाले।
(छ) शंख-ध्वनि कर भोजन करने वाले।
(ज) सदा खड़े रहने वाले।
(झ) मृग-मांस के भक्षण करने वाले।

(ट) हाथी का मांस खाकर रहने वाले।
(ठ) सदा ऊंचा दण्ड किये रहने वाले।
(ड) वल्कल-वस्त्र धारण करने वाले।
(ढ) सदा पानी में रहने वाले।
(ण) सदा वृक्ष के नीचे रहने वाले।
(त) केवल जल पर निर्वाह करने वाले।
(थ) जल के ऊपर आने वाली शैवाल खा कर जीवन चलाने वाले।
(द) वायु-भक्षण करने वाले।
(ध) वृक्ष-मूल का आहार करने वाले।
(न) वृक्ष के कन्द का आहार करने वाले।
(प) वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले।
(फ) वृक्ष की छाल का आहार करने वाले।
(ब) पुष्पों का आहार करने वाले।
(भ) बीजों का आहार करने वाले।
(म) स्वतः टूट कर गिरे हुए पत्रों, पुष्पों, तथा फलों का आहार करने वाले।
(य) दूसरे द्वारा फेंके हुए पदार्थों का आहार करने वाले।
(र) सूर्य की आतापना लेने वाले।
(ल) कष्ट सह कर शरीर को पत्थर जैसा कठोर बनाने वाले।
(व) पंचाग्नि तापने वाले।
(श) गर्म बर्तन पर शरीर को परितप्त करने वाले।

तापसों के ये विभिन्न रूप उस समय की साधना-प्रणालियों की विविधता के द्योतक हैं। साधारणतः इनमें से कुछ का झुकाव हठयोग या काय-क्लेश मूलक तप की ओर अधिक प्रतीत होता है। इन साधनाओं का सांगोपांग रूप क्या था, इनका किन दार्शनिक परम्पराओं या धर्म-सम्प्रदायों से सम्बन्ध था, उन दिनों भारत में उस प्रकार के उनसे भिन्न और भी साधना-क्रम थे क्या, उनके पीछे तत्त्व-चिन्तन की क्या पृष्ठभूमि थी, इत्यादि विषयों के अध्ययन की दृष्टि से ये सूचनाएँ उपयोगी हैं।

११. पुप्फचूला (पुष्पचूला)

१. श्रीदेवी-अध्ययन, २. ह्रीदेवी-अध्ययन, ३.धृतिदेवी-अध्ययन, ४.कीर्तिदेवी-अध्ययन, ५. बुद्धिदेवी-अध्ययन, ६. लक्ष्मीदेवी-अध्ययन, ७. इलादेवी,-अध्ययन, ८. सुरादेवी-अध्ययन, ९. रसदेवी-अध्ययन, १०. गन्धदेवी-अध्ययन, ये दश अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में श्रीदेवी का वर्णन है। वह देवी दैवी-वैभव, समृद्धि तथा सज्जा के साथ अपने विमान द्वारा भगवान् के दर्शन के लिये आती है। गणधर गौतम भगवान् महावीर से उसका पूर्व भव पूछते हैं। भगवान् उसे बतलाते हैं। इस प्रकार श्रीदेवी के पूर्व जन्म का कथानक उपस्थित किया जाता है।

दूसरे से दसवें तक के अध्ययन केवल संकेत मात्र हैं, जो इस प्रकार हैं:—जिस प्रकार प्रथम अध्ययन में श्रीदेवी का वृत्तान्त वर्णित हुआ है, उसी प्रकार अवशिष्ट नौ देवीयों का समझ लें। उन देवियों के विमानों के नाम उनके अपने-अपने नामों के अनुसार हैं। सभी सौधर्म-कल्प में निवास करने वाली हैं। पूर्व भव के नगर, चैत्य, माता-पिता, उनके अपने नाम संग्रहणी गाथा[1] के अनुसार हैं। अपने पूर्व भव में वे सभी भगवान् पार्श्व के सम्पर्क में आईं। पुष्पचूला आर्या की शिष्याएँ हुईं। सभी शरीर आदि का विशेष प्रक्षालन करती थीं, शौच-प्रधान थीं। सभी देवलोक से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेंगी। इस प्रकार पुष्पचूला का समापन हुआ।"[2]

---

१. संग्रहणी गाथा, जिसमें पूर्व-भव के नगर, नाम, माता-पिता आदि का उल्लेख रहता है, विच्छिन्न प्रतीत होती है।

२. एवं सेसाण वि नवण्हं भाणियव्वं, सरिसनामा विमाणा, सोहम्मे कप्पे। पुव्वभवे नगर चेइय पियमाईणं अप्पणो य नामाइ जहा संगहणीए। सव्वा पासस्स अंतिए निक्खंताओ, पुप्फचूलाणं सिस्सिणीयाओ सरीर-पाओसियाओ सव्वाओ अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति। एवं खलु निक्खेवओ। पुप्फचूलाओ सम्मत्ताओ।

—पुप्फचूला; अन्तिम प्रसंग

१२. वण्हिदशा (वृष्णिदशा)

नाम

नन्दी-चूर्णि के अनुसार इस उपांग का पूरा नाम अन्धकवृष्णि दशा था। अन्धक शब्द काल-क्रम से लुप्त हो गया, केवल वृष्णिदशा बचा रहा। अब यह उपांग इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बारह अध्ययन हैं, जिनमें वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारों का वर्णन है। उन्हीं राजकुमारों के नाम से वे अध्ययन हैं : १. निषधकुमार-अध्ययन, २. अनीककुमार-अध्ययन, ३. प्रह्वकुमार-अध्ययन, ४ वेधकुमार-अध्ययन, ५. प्रगतिकुमार-अध्ययन, ६ मुक्तिकुमार-अध्ययन, ७. दशरथकुमार-अध्ययन, ८. दृढरथकुमार-अध्ययन ९. महाधनुष्कुमार-अध्ययन, १०. सप्तधनुष्कुमार-अध्ययन, ११ दशधनुष्कुमार-अध्ययन तथा १२. शतधनुष्कुमार-अध्ययन।

प्रथम अध्ययन में बलदेव और रेवती के पुत्र निषधकुमार के उत्पन्न होने, बड़े होने, श्रमणोपासक बनने तथा भगवान् अरिष्टनेमि से श्रमण-प्रव्रज्या ग्रहण करने आदि का वर्णन है। उसके विगत तथा भविष्यमाण दो भवों व अन्ततः (दूसरे भव के अन्त में) महाविदेह क्षेत्र में सिद्धत्व प्राप्त करने का वर्णन है।

यद्यपि इस अध्ययन में वासुदेव कृष्ण का वर्णन प्रसंगोपात है, पर, वह महत्त्वपूर्ण है। वासुदेव कृष्ण के प्रभुत्व, वैभव, सैन्य, समृद्धि, गरिमा, सज्जा आदि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। वृष्णिवंश या यादव कुल के राज्य, यादववंश का वैपुल्य, आज के सौराष्ट्र के प्रागैतिहासिककालीन विवरण आदि अध्ययन की दृष्टि से इस उपांग का यह भाग उपयोगी है। अन्य ग्यारह अध्ययन केवल सूचना मात्र हैं। जैसे, इसी प्रकार (प्रथम की तरह) अवशिष्ट ग्यारह अध्ययन समझने चाहिए। पूर्व भव के नाम आदि संग्रहणी गाथा से ज्ञातव्य हैं। इन ग्यारह कुमारों का वर्णन निषधकुमार के वर्णन से न न्यून है और न अधिक। इस प्रकार वृष्णिदशा का समापन हुआ।"[1]

---

१. एवं सेसा वि एक्कारस अज्झयणा नेयव्वा। संगहणी अणुसारेण अहीण-मइरित्तं एक्कारससु वि। इति वण्हिदशा सम्मत्ता।

—वृष्णिदशा सूत्र, अन्तिम अंश।

वृष्णि-दशा के समाप्त होने का कथन करने के अनन्तर अंत में इन शब्दों द्वारा एक और सूचन किया गया है : "निरयावलिका श्रुत-स्कन्ध समाप्त हुआ। उपांग समाप्त हुए। निरयावलिका उपाँग का एक ही श्रुत-स्कन्ध है। उसके पाँच वर्ग हैं। वे पांच दिनों में उपदिष्ट किये जाते हैं। पहले से चौथे तक के वर्गों में दश-दश अध्ययन हैं और पांचवें वर्ग में बारह अध्ययन हैं। निरयावलिका श्रुत-स्कन्ध समाप्त हुआ।"[1] इस उल्लेख से बहुत स्पष्ट है, वर्तमान में पृथक्-पृथक् पांच गिने जाने वाले निरयावलिका (कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका पुष्पचूला तथा वृष्णिदशा); ये उपांग कभी एक ही ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित थे।

छेद सूत्र

बौद्ध वाङ्मय में विनय-पिटक की जो स्थिति है, जैन वाङ्मय में छेद-सूत्रों की लगभग उसी प्रकार की स्थिति है। इनमें जैन श्रमणों तथा श्रमणियों के जीवन से सम्बद्ध आचार-विषयक नियमों का विश्लेपण है, जो भगवान महावीर द्वारा निरूपित किये गये थे तथा आगे भी समय-समय पर उनकी उत्तरवर्ती परम्परा में निर्धारित होते गये थे। नियम-भंग हो जाने पर साधु-साध्वियों द्वारा अनुसरणीय अनेक प्रायश्चित्त-विधियों का इनमें विशेपतः विश्लेपण है।

श्रमण-जीवन की पवित्रता को बनाये रखने की दृष्टि से छेद-सूत्रों का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इन्हें उत्तम कहा गया है। भिक्षु-जीवन के सम्यक् संचालन के हेतु छेद-सूत्रों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। आचार्य, उपाध्याय जैसे महत्त्वपूर्ण पदों के अधिकारी छेद-सूत्रों के मर्म-वेत्ता हों, [illegible] माना जाता रहा है। कहा गया है, कोई भी आचार्य

---

1. निरयावलिया सुयक्खंधो सम्मत्तो। सम्मत्ताणि य उवंगाणि। निरयावलिया उवंगे णं एगो सुयक्खंधो, पंच वग्गा पंचसु दिवसेसु उद्दिस्संति। तत्थ चउसु वग्गेसु दस दस उद्देसगा। पंचमगे बारस उद्देसगा। निरयावलिया सुयक्खंधो सम्मत्तो।

—निरयावलिया; (वण्हिदसा), अन्तिम भाग

है।"[1] इस व्याख्या का तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार रहस्यमय विद्या मन्त्र, तन्त्र, योग आदि अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्तियों को नहीं बताये जा सकते अर्थात् उनसे उन्हें छिपा कर या गोप्य रखा जाता है, उसी प्रकार निशीथ सूत्र भी गोप्य है, हर किसी के समक्ष उद्घाट्य नहीं है।

निशीथ आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध से सम्बद्ध माना जाता है। इसे आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध की पंचम चूला के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसे निशीथ-चूला-अध्ययन कहा जाता है। निशीथ को आचार-प्रकल्प के नाम से भी अभिहित किया गया है।

निशीथ सूत्र में साधुओं के और साध्वियों के आचार से सम्बद्ध उत्सर्ग-विधि तथा अपवाद-विधि का विवेचन है एवं उनमें स्खलना होने पर आचरणीय प्रायश्चित्तों का विवेचन है। इस सन्दर्भ में वहाँ बहुत सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है, जो अपने संयम—जीवितव्य का सम्यक् निर्वाह करने की भावना वाले प्रत्येक निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थिनी के लिये पठनीय है। ऐसी मान्यता है कि यदि कोई साधु निशीथ सूत्र विस्मृत कर दे, तो वह यावज्जीवन आचार्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

रचना : रचनाकार

निशीथ सूत्र की रचना कब हुई, किसके द्वारा हुई, यह निर्विवाद नहीं है। बहुत पहले से इस सम्बन्ध में मत-भेद चले आ रहे हैं। निशीथ भाष्यकार का अभिमत है कि पूर्वधारी श्रमणों द्वारा इसकी रचना की गयी। अर्थात् यह पूर्व-ज्ञान के आधार पर निबद्ध है। इसका और अधिक स्पष्ट रूप इस प्रकार माना जाता है कि नवम प्रत्याख्यान पूर्व के आचार-संज्ञक तृतीय अधिकार के बीसवें प्राभृत के आधार पर यह (निशीथ-सूत्र) रचा गया।

चूर्णिकार जिनदास महत्तर का मन्तव्य है कि, विसाहगणि ([illegible]) [illegible] ने इसकी रचना की, जिसका उद्देश्य अपने

1 [illegible] ।
2 [illegible] ॥

शिष्य-प्रशिष्यों का हित-साधन था। पंचकल्प चूर्णि मे बताया गया है कि, आचार्य भद्रबाहु निशीथ सूत्र के रचयिता थे।

निशीथ सूत्र मे बीस उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक भिन्न-भिन्न संख्यक सूत्रों से विभक्त हैं।

व्याख्या साहित्य

निशीथ के सूत्रो पर निर्युक्ति की रचना हुई। परम्परा से आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तिकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं। सूत्र एव निर्युक्ति के विश्लेषण हेतु संघदास गणी ने भाष्य की रचना की। सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर जिनदास महत्तर ने विशेष चूर्णि की रचना की, जो अत्यन्त सार-गर्भित है। प्रद्युम्न सूरि के शिष्य द्वारा इस पर अवचूरि की भी रचना की गई। इस पर बृहद् भाष्य भी रचा गया, पर, वह आज प्राप्त नही है। सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा द्वारा निशीथ सूत्र का भाष्य एव चूर्णि के साथ चार भागो मे प्रकाशन हुआ है, जिसका सम्पादन सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय अमर मुनि जी तथा मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' द्वारा किया गया है।

२. महानिसीह (महानिशीथ)

महानिशीथ को समग्र आर्हत्-प्रवचन का सार बताया गया है। पर, वस्तुत जो मूल रूप मे महानिशीथ था, वह यथावत् नही रह सका। कहा जाता है कि, इसके ग्रन्थ नष्ट-भ्रष्ट हो गये, उन्हें दीमक खा गये। तत्पश्चात् आचार्य हरिभद्रसूरि ने उसका पुन परिष्कार या संशोधन किया और उसे एक स्वरूप प्रदान किया। ऐसा माना जाता है कि वृद्धवादी, सिद्धसेन, यक्षसेन, देवगुप्त, यशोवर्धन, रविगुप्त, नेमिचन्द्र तथा जिनदास गणी प्रभृति आचार्यों ने उसे समादृत किया। वह प्रवर्तित हुआ। साधारणतया निशीथ को लघु निशीथ और इसे महानिशीथ कहा जाता है। पर, वास्तव में ऐसा घटित नही होता; क्योंकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महानिशीथ का वास्तविक रूप विद्यमान नही है।

महानिशीथ छः अध्ययनों तथा दो चूलाओं मे विभक्त है। प्रथम अध्ययन का नाम शल्योद्धरण है। इसमें पाप रूप शल्य की

निन्दा और आलोचना के सन्दर्भ में अठारह पाप-स्थानकों की चर्चा है। द्वितीय अध्ययन में कर्मों के विपाक तथा पाप-कर्मों की आलोचना की विधेयता का वर्णन है। तृतीय और चतुर्थ अध्ययन में कुत्सित शील या आचरण वाले साधुओं का संसर्ग न किये जाने के सम्बन्ध में उपदेश है। प्रसंगोपात्त यहां उल्लेख है कि, नवकार मन्त्र का उद्धार किया और इसे मूल सूत्र में स्थान दिया।[1] नवनीतसार संज्ञक पंचम अध्ययन में गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है। उस प्रसंग में गच्छ का भी वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गच्छाचार नामक प्रकीर्णक की रचना इसी के आधार पर हुई। षष्ठ अध्ययन में आलोचना तथा प्रायश्चित्त के क्रमशः दस और चार भेदों का वर्णन है।

पति की मृत्यु पर स्त्री के सती होने तथा यदि कोई राजा निष्पुत्र मर जाए, तो उसकी विधवा कन्या को राज्य-सिंहासनासीन किये जाने का भी यहां उल्लेख है।

ऐतिहासिकता

इस सूत्र की भाषा तथा विषय के स्वरूप को देखते हुए इसकी गणना प्राचीन आगमों में किया जाना समीचीन नहीं लगता। इसमें तन्त्र सम्बन्धी वर्णन भी प्राप्त होते हैं। जैन आगमों के अतिरिक्त इतर धर्मों का भी इसमें उल्लेख है। अन्य भी ऐसे अनेक पहलू हैं, जिनसे यह सम्भावना पुष्ट होती है कि यह सूत्र अर्वाचीन है।

३. ववहार (व्यवहार)

आगम-वाङ्मय में व्यवहार-सूत्र का बहुत बड़ा महत्त्व है। यहां तक कि इसे द्वादशांग का नवनीत कहा गया है। यद्यपि संख्या में छेद-सूत्र छः हैं, पर, वस्तुतः उनमें विषय, सामग्री, रचना आदि सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण तीन ही हैं, जिनमें व्यवहार सूत्र मुख्य है। अवशिष्ट दो निशीथ और बृहत्कल्प हैं।

---

१. यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-मान्यता में नवकार मन्त्र के विषय में भिन्न मान्यता है। षट्खण्डागम के धवला टीकाकार वीरसेन का अभिमत है कि आचार्य पुष्पदन्त नवकार मन्त्र के स्रष्टा हैं।

दश उद्देशक है, जो लगभग तीन सौ सूत्रों मे विभक्त हैं। कलेवर में यह श्रुत-ग्रन्थ निशीथ से छोटा और वृहत्कल्प से बडा है। भिक्षुओ, भिक्षुणियो द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप मे आचरित दोषो या स्खलनाओं की शुद्धि या प्रतिकार के लिए प्रायश्चित्त, आलोचना आदि का यहा बहुत मार्मिक वर्णन है। उदाहरणार्थ, प्रथम उद्देशक मे एक प्रसंग है। यदि एक साधु अपने गण से पृथक् हो कर एकाकी विहार करने लगे और फिर यदि अपने गण मे पुन समाविष्ट होना चाहे, तो उसके लिए आवश्यक है कि, वह उस गण के आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष अपनी गर्हा, निन्दा, आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त अंगीकार कर आत्म-मार्जन करे। यदि आचार्य या उपाध्याय न मिले, तो साम्भोगिक, विद्यागमी साधुओ के समक्ष वैसा करे। यदि वह भी न मिले, तो सूत्रकार ने अन्य साम्भोगिक इतर सम्प्रदाय के विद्यागमी साधु के समक्ष वैसा करने का विधान किया है। उसके भी न मिलने पर सूत्रकार ने अन्य विशिष्ट व्यक्तियो के विकल्प उपस्थित किए है, जिनकी साक्षी से आलोचना, निन्दा, गर्हा द्वारा अन्तः-परिष्कार कर प्रायश्चित्त किया जाये। यदि वैसा कोई भी न मिल पाए, तो सूत्रकार का निर्देश है कि ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड, कर्पट, मडम्ब, पट्टण, द्रोणमुख आदि के पूर्व या उत्तर दिशा मे स्थित हो, अपने मस्तक पर दोनो हाथो की अजलि रख कर इस प्रकार कहते हुए आत्मपर्यालोचन करे कि मैंने अपराध किए हैं, साधुत्व में अपराधी दोषी बना हू। मैं अर्हतो और सिद्धो की साक्षी से आलोचना करता हू। आत्म-प्रतिक्रान्त होता हूं, आत्म-निन्दा तथा गर्हा करता हू, प्रायश्चित्त स्वीकार करता हू।

आत्म-परिष्कृति या अन्त शोधन की यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो श्रामण्य के विशुद्ध-निर्वहन मे नि सदेह उद्बोधक तथा उत्प्रेरक है। व्यवहार-सूत्र मे इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं, जिनका श्रमण-जीवन एवं श्रमण-संघ के व्यवस्था-क्रम, समीचीनतया सचालन तथा पवित्रता की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

कतिपय महत्वपूर्ण प्रसंग

प्रायश्चित्तों के विश्लेषण की दृष्टि से दूसरा उद्देशक भी विशेष महत्वपूर्ण है। अनवस्थाप्य, पारांचिक आदि प्रायश्चित्तों के सन्दर्भ में इस में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन हुआ है। एक स्थान पर वर्णन है—"जो साधु रोगाक्रान्त है, वायु आदि के प्रकोप से जिसका चित्त विक्षिप्त है, कारण-विशेष (कन्दर्पोद्भव आदि) से जिसके चित्त में वैकल्य है, यक्ष आदि के आवेश के कारण जो ग्लान है, शैत्य आदि से अत्याक्रान्त है, जो उन्माद-प्राप्त है, जो देवकृत उपसर्ग से ग्रस्त होने के कारण अस्त-व्यस्त है, क्रोध आदि कषाय के तीव्र आवेश के कारण जिसका चित्त खिन्न है, उसको—उन सबको जब तक वे स्वस्थ न हो जायें, तब तक उन्हें गण से बहिष्कृत करना अकल्प्य है।" इस प्रकार के और भी अनेक प्रसंग हैं।

गण-धारकता के लिए अपेक्षित स्थितियां विहार-चर्या के विधि-निषेध, पदासीनता, भिक्षा-चर्या, सम्भोग-विसम्भोग का विधि-क्रम, स्वाध्याय के सम्बन्ध में सूचन आदि अनेक विवरण हैं जो श्रमण-जीवन के सर्वांगीण अध्ययन एवं अनुशीलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

सातवां उद्देशक साधुओं और साध्वियों के पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से अध्येतव्य है। वहां उल्लेख है कि, तीन वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला अर्थात् जिसे प्रव्रजित हुए केवल तीन वर्ष हुए हैं, ऐसा साधु उस साध्वी को, जिसे दीक्षा ग्रहण किये तीस वर्ष हो गये हैं, उपाध्याय के रूप में आदेश-उपदेश दे सकता है। इसी प्रकार केवल पांच वर्ष का दीक्षित साधु साठ वर्ष की दीक्षिता साध्वी को आचार्य-रूप में उपदेश दे सकता है। ये विधान विनयपिटक के उस प्रसंग से तुलनीय हैं, जहां सौ वर्ष की उपसम्पदा-प्राप्त भिक्षुणी को भी उसी दिन उपसम्पन्न भिक्षु के प्रति अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि-कर्म आदि करने का विधान है। साधुओं एवं साध्वियों के पारस्परिक-व्यवहार-सम्बन्धी तारतम्य और भेद-रेखा की दृष्टि से ये प्रसंग विशेष रूप से मननीय एवं समीक्षणीय हैं।

नवम उद्देशक में साधु की प्रतिमाओं तथा अभिग्रह का और दशम अध्ययन में यवमध्य-चन्द्र प्रतिमा, वज्र-मध्य-चन्द्र प्रतिमा आदि का वर्णन है।

दशम अध्ययन में शास्त्राध्ययन की मर्यादा एवं नियमानुक्रम का विवेचन है, जो प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए ज्ञातव्य है। उसके अनुसार निम्नांकित दीक्षा-पर्याय-सम्पन्न साधु निम्नांकित रूप में शास्त्राध्ययन का अधिकारी है.

दीक्षा-पर्याय	शास्त्र
तीन वर्ष	आचार-कल्प
चार वर्ष	सूत्रकृतांग
पांच वर्ष	दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार
आठ वर्ष	स्थानांग, समवायांग
दस वर्ष	व्याख्या-प्रज्ञप्ति
ग्यारह वर्ष	क्षुल्लिका-विमान-प्रविभक्ति, महती-विमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वंग (वर्ग)-चूलिका एवं व्याख्या-चूलिका
बारह वर्ष	अरुणोपपात, गरुडोपपात, वरुणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात।
तेरह वर्ष	उत्थान-श्रुत, समुत्थान-श्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरियापनिका
चौदह वर्ष	स्वप्न-अध्ययन
पन्द्रह वर्ष	चारण-भावना अध्ययन
सोलह वर्ष	तेज निसर्ग
सत्रह वर्ष	आशीविष-भावना-अध्ययन
अठारह वर्ष	दृष्टि-विष-भावना-अध्ययन
उन्नीस वर्ष	दृष्टिवाद अंग
बीस वर्ष	सभी शास्त्र

इस उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, नव दीक्षित शैक्ष (शिष्य), वार्धक्य आदि के कारण ग्लान (श्रमण), कुल, गण, संघ तथा सार्धमिक; इन दश के वैयावृत्य—दैहिक सेवा आदि का भी उल्लेख है।

रचयिता और व्याख्याकार

व्यवहार सूत्र के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। उन्हीं के नाम से इस पर निर्युक्ति है। पर, सूत्रकार तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु एक ही थे, यह विवादास्पद है। बहुत सम्भव है, सूत्र तथा निर्युक्ति भिन्नकर्तृक हों; इस नाम से दो भिन्न आचार्यों की रचनाएं हों। व्यवहार सूत्र पर भाष्य भी उपलब्ध है पर, निर्युक्ति तथा भाष्य परस्पर मिश्रित से हो गये हैं। आचार्य मलयगिरि द्वारा भाष्य पर विवरण की रचना की गयी है। व्यवहार सूत्र पर चूर्णि और अवचूरि की भी रचना हुई। ऐसा अभिमत है कि इस पर बृहद् भाष्य भी था, पर, वह आज उपलब्ध नहीं है।

४. दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध)

यह छेद-सूत्रों में चौथा है। इसे दशा, आचार-दशा या दशाश्रुत भी कहा जाता है। यह दश भागों में विभक्त है, जिन्हें दशा नाम से अभिहित किया गया है। आठवां भाग अध्ययन नाम से संज्ञित है।

प्रथम दशा में असमाधि के बीस स्थानों का वर्णन है। द्वितीय दशा में शबल के इक्कीस स्थानों का विवेचन है। शबल का अर्थ धब्बों वाला, चितकबरा या सदोष है। यहां शबल का प्रयोग दूषित आचरण रूप धब्बों के अर्थ में है। तृतीय दशा में आशातना के तैंतीस प्रकार आदि का उल्लेख है।

गणि-सम्पदा

चतुर्थ दशा में गणी या आचार्य की आठ सम्पदाओं का वर्णन है। वे आठ सम्पदाएं इस प्रकार हैं : १. आचार-सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोग-सम्पदा, ८. संग्रह-सम्पदा। प्रत्येक

सम्पदा के भेदों का जो वर्णन किया गया है, वह श्रमण-संस्कृति से आप्यायित विराट व्यक्तित्व के स्वरूप को जानने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है; अतः उन भेदों का यहां उल्लेख किया जा रहा है :

आचार-सम्पदा के चार भेद : १. संयम में ध्रुव योगयुक्त होना, २. अहंकाररहित होना, ३. अनियतवृत्ति होना, ४. वृद्ध स्वभावी (अचञ्चल स्वभावी) होना।

श्रुत-सम्पदा के चार भेद : १. बहुश्रुतता, २. परिचितश्रुतता, ३. विचित्रश्रुतता, ४. घोषविशुद्धिकारकता।

शरीर-सम्पदा के चार भेद : १. आदेय-वचन, (ग्रहण करने योग्य वाणी), २. मधुर वचन, ३. अनिश्रित (प्रतिबन्ध रहित) वचन, ४. असन्दिग्ध वचन।

वाचना-सम्पदा के चार भेद : १. विचारपूर्वक वाच्य विषय का उद्देश-निर्देश करना, २. विचारपूर्वक वाचना करना, ३. उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, ४. अर्थ का सुनिश्चित निरूपण करना।

मति-सम्पदा के चार भेद : १. अवग्रह-मति-सम्पदा, २. ईहा-मति-सम्पदा, ३. अवाय-मति-सम्पदा, ४. धारणा-मति सम्पदा।

प्रयोग-सम्पदा के चार भेद : १. आत्म-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग, २. परिषद्-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग, ३. क्षेत्र-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग, ४. वस्तु-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग।

संग्रह-सम्पदा के चार भेद : १. वर्षाऋतु में सब मुनियों के निवास के लिए योग्य स्थान की परीक्षा करना, २. सब मुनियों के लिये प्रातिहारिक पीठ-फलक-शय्या संस्तारक की व्यवस्था करना, ३. नियत समय पर प्रत्येक कार्य करना, ४. अपने से बड़ों की पूजा-प्रतिष्ठा करना।

पंचम दशा में चित्त-समाधि-स्थान तथा उसके दस भेदों का वर्णन है। षष्ठ दशा में उपासक या श्रावक की दस प्रतिमाओं का निरूपण है। उस सन्दर्भ में सूत्रकार ने मिथ्यात्व-प्रसूत अक्रियावाद

और आरम्भ-समारम्भ-मूलक क्रियावाद का विस्तार से विश्लेषण करते हुए द्रोह, राग, मोह, आसक्ति, वैमनस्य तथा भोगैषणा, लौकिक सुख, लोकैषणा-लोक-प्रशस्ति आदि से उद्भूत अनेकानेक पाप-कृत्यों का विश्लेषण करते हुए उनके नारकीय फलों का रोमांचक वर्णन किया है।

सप्तम दशा में द्वादशविध भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन है। जैसे, प्रथम एक मासिक भिक्षु-प्रतिमा में पालनीय आचार-नियमों के सन्दर्भ में विहार-प्रवास को उद्दिष्ट कर बतलाया गया है कि एक मासिक भिक्षु-प्रतिमा-उपपन्न भिक्षु, जिस क्षेत्र में उसे पहचानने वाले हों, वहां केवल एक रात, अधिक हो तो, दो रात प्रवास कर विहार कर जाए। ऐसा न करने पर वह भिक्षु-दीक्षाच्छेद अथवा परिहारिक तप के प्रायश्चित्त का भागी होता है। प्रत्येक प्रतिमा के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया गया है, जो प्रत्येक संयम एवं तप-रत भिक्षु के लिये परिशीलनीय है।

अष्टम अध्ययन में भगवान् महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञान, मोक्ष का वर्णन है। इसे पज्जोसण-कप्प या कल्प-सूत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस पर अनेक आचार्यों की टीकाएं हैं, जिनमें जिनप्रभ, धर्मसागर, विनयविजय, समयसुन्दर, रत्नसागर, संघविजय, लक्ष्मीवल्लभ आदि मुख्य हैं। पर्युषण के दिनों में साधु प्रवचन में इसको पढ़ते हैं। छेद-सूत्रों का परिषद् में पठन न किये जाने की परम्परा रही है; क्योंकि उनमें अधिकांशतः साधु-साध्वियों द्वारा ज्ञात-अज्ञात में हुई भूलों, दोषों आदि के सम्मार्जन के विधि-क्रम हैं, जिन्हें विशेषतः उन्हें ही समझना चाहिए, जिनसे [illegible] सम्बन्ध है। पर्युषण-कल्प छेद सूत्र का अंग होते हुए भी एक [illegible] हुआ है; अतः उसका पठन अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवन-इतिहास का अवबोध कराने के हेतु उपयोगी है। [illegible] ९९३ में आनन्दपुर के राजा ध्रुवसेन के पुत्र का मरण हो गया। तब राजा तथा पारिवारिक जनों को शान्ति देने के लिये उनके समक्ष सभा में पठन-क्रम प्रारम्भ हुआ।

रचनाकार : व्याख्या-साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। उन्हीं के नाम से इस पर नियुक्ति है। पर, जैसा कि व्यवहार-सूत्र के वर्णन के प्रसंग में उल्लेख हुआ है, सूत्र और नियुक्ति की एक-कर्तृकता संदिग्ध है। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई। ब्रह्मर्षि पार्श्वचन्द्रीय प्रणीत वृत्ति भी है।

५. कप्प (कल्प अथवा बृहत्कल्प)

दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में पर्युषणा-कल्प की चर्चा की गयी है, उससे यह भिन्न है। इसे कल्पाध्ययन भी कहा जाता है। कल्प या कल्प्य का अर्थ योग्य या विहित है। साधु-साध्वियों के संयम जीवन के निमित्त जो साधक आचरण है, वे कल्प या कल्प्य हैं और उसमें बाधा या विघ्न उपस्थित करने वाले जो आचरण हैं, वे अकल्प या अकल्प्य है। प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वियों के संयत चर्या के सन्दर्भ में वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के विषय में विशद विवेचन है। इसे जैन श्रमण-जीवन से सम्बद्ध प्राचीनतम आचार-शास्त्र का महान् ग्रन्थ माना जाता हैं। निशीथ और व्यवहार की तरह इसका भी भाषा, विषय आदि की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इसकी भाषा विशेष प्राचीनता लिये हुए है। पर, टीकाकारों द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तन, परिवर्धन आदि किया जाता रहा है, जैसा कि अन्यान्य आगमों में भी हुआ है।

कलेवर : विषय-वस्तु

छः उद्देशकों में यह सूत्र विभक्त है। श्रमणों के खान-पान, रहन-सहन, विहार-चर्या आदि के गहन विवेचन की दृष्टि से इस में परिलक्षित होती है। प्रसंगोपात्त इसके प्रथम उद्देशक में साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्हें पूर्व में अंग और मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में थानेश्वर-प्रदेश तक तथा उत्तर-पूर्व में कुणाल-प्रदेश तक विहार करना कल्प्य है। इतना आर्य क्षेत्र है। इससे बाहर विहार कल्प्य नहीं है। इसके अनन्तर कहा गया है कि यदि साधुओं को अपने ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य की वृद्धि होने की प्रतीत होना हो, लोगों में ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य का विधान न

सम्भावना हो, तो उक्त सीमाओं से भी बाहर विहार करना कल्प्य है।

तीसरे उद्देशक में साधुओं और साध्वियों के एक-दूसरे के ठहरने के स्थान में आवागमन की मर्यादा, बैठने, सोने, आहार करने, स्वाध्याय करने, ध्यान करने आदि के निषेध प्रभृति का वर्णन है। श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार करने के समय उपकरण-ग्रहण का विधान, वर्षा-काल के चार तथा अवशिष्ट आठ मास में वस्त्र-व्यवहार आदि और भी अनेक ऐसे विषय इस उद्देशक में व्याख्यात हुए हैं, जो सतत जागरूक तथा संयम-रत जीवन के सम्यक् निर्वाह की प्रेरणा देते हैं।

चतुर्थ उद्देशक में आचार-विधि तथा प्रायश्चित्तों का विश्लेषण है। इस संदर्भ में अनुद्घातिक, पारांचिक तथा अनवस्थाप्य आदि की चर्चा है।

कतिपय महत्वपूर्ण उल्लेख

प्रासंगिक रूप में चतुर्थ उद्देशक में उल्लेख हुआ है कि गंगा, यमुना, सरयू, कोशी और मही नामक जो बड़ी नदियां हैं, उनमें से किसी भी नदी को एक मास में एक वार से अधिक पार करना साधु-साध्वी के लिए कल्प्य नहीं है। साथ ही-साथ वहां ऐसा भी कहा गया है: "जैसे, कुणाला में एरावती नदी है, वह कम जल वाली है; अतः एक पैर को पानी के भीतर और दूसरे को पानी के ऊपर करते हुए, पानी देख कर (निनार-निनार कर) उसे पार किया जा सकता है। जहां एक मास में दो बार, तीन बार पार करना भी कल्प्य है। पर जहां जल की अधिकता के कारण वैसा करना शक्य नहीं है, वहां एक मास में अधिक पार करना अकल्प्य है।

[illegible] उद्देशक में एक प्रसंग में कहा गया है कि, किसी साधु के शरीर में [illegible], [illegible], काष्ठ का तीखा टुकड़ा गड़ जाये, उसे स्वयं [illegible] में सक्षम न हो, निकालने वाला अन्य साधु पास में न हो, और साध्वी उसे शुद्ध भाव से निकाले, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती। इसी प्रकार साधु की आंख में कोई जीव-जन्तु, बीज, रज-कण आदि गड़ जाये, उसे वह साधु स्वयं न निकाल

रहे और न ऐसा कर सकने वाला कोई दूसरा साधु पास में हो, तो साध्वी शुद्ध भाव से ऐसा करती हुई तीर्थंकर की आज्ञा का अति-क्रमण नहीं करती।

साध्वी के भी यदि वैसी ही स्थिति हो, जैसी साधु की बतलाई गई है, तो साधु शुद्ध भाव से साध्वी के पैर से कीला, कांटा, कांच का टुकड़ा आदि निकाल सकता है। आंख में से कीड़ा, बीज, रज-कण आदि हटा सकता है। ऐसा करता हुआ वह तीर्थंकर की आज्ञा की विराधना नहीं करता।

एक और प्रसंग है, जिसमें बतलाया गया है कि यदि कोई साध्वी दुर्गम स्थान, विषम स्थान, पर्वत से स्खलित हो रही हो, गिर रही हो, उसे बचा सके, वैसी कोई दूसरी साध्वी उसके पास न हो, तो साधु उसे पकड़ कर सहारा देकर बचाए, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। इसी प्रकार यदि कोई साधु नदी, जलाशय या कीचड़ से फंसी साध्वी को पकड़ कर निकाल दे, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। इसी प्रकार नौका में चढ़ते-उतरते समय साध्वी के लड़खड़ा जाने, पड़ने लगने, वात आदि दोष से विक्षिप्त हो जाने के कारण अपने को न सम्भाल पाए, हर्षा-तिरेक या शोकातिरेक से व्यस्त-चित्त हो कर आत्म-घात आदि के लिए उद्यत होने, यक्ष, भूत, प्रेत आदि से आवेशित हो जाने के कारण अस्त-व्यस्त दशा में हो जाने जैसे अनेक प्रसंग उपस्थित करते हुए सूत्र-कार ने निर्दिष्ट किया है कि उक्त स्थिति में साधु साध्वी को पकड़ कर बचा सकता है। वैसा करने से उसे कोई दोष नहीं आता।

स्पष्ट है कि सूत्रकार ने इन प्रसंगों से श्रमण-जीवन के विविध पहलुओं को सूक्ष्मता से परखते हुए एक व्यवस्था निर्देशित की है, जो श्रामण्य के शुद्धिपूर्वक निर्वहण-हेतु अपेक्षित एवं उपयुक्त सुवि-धाओं की पूरक है।

रचना एवं व्याख्या-साहित्य

कल्प या बृहत्कल्प के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि प्रत्याख्यान संज्ञक नवम पूर्व

की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत के प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर इसकी रचना की गयी। पूर्व-ज्ञान की परम्परा उस समय अस्तोन्मुख थी; अतः प्रायश्चित्त-विधान जिन्हें प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को भलीभांति जानना चाहिए, कहीं उच्छिन्न या लुप्त न हो जाए, एतदर्थ आचार्य भद्रबाहु ने व्यवहार सूत्र और कल्पसूत्र रचे।

कल्प पर भद्रबाहु कृत निर्युक्ति भी है, जिसकी कर्तृकता असन्दिग्ध नहीं है। श्री संघदास गणी ने लघु भाष्य की रचना की। मलयगिरि ने उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु को निर्युक्ति तथा श्री संघदास गणी का भाष्य; दोनों इस प्रकार परस्पर विमिश्रित जैसे हो गये हैं कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् स्थापित करना असम्भव जैसा है। भाष्य पर आचार्य मलयगिरि ने विवरण की रचना की। पर, वह रचना पूर्ण नहीं थी। लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् श्री क्षेमकीर्ति सूरि ने उसे पूरा किया। बृहत्कल्प पर बृहद् भाष्य भी है, पर, वह पूर्ण नहीं है, केवल तृतीय उद्देशक तक ही प्राप्य है। इस पर विशेष चूर्णि की भी रचना हुई।

६. पंचकप्प (पंच-कल्प)

पंचकल्प सूत्र और पंचकल्प भाष्य; ये दो नाम प्रचलित हैं, जिनसे सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दो ग्रन्थ हों, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नाम दो है, ग्रन्थ एक। श्री मलयगिरि और श्री क्षेमकीर्ति के अनुसार पंचकल्प-भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प-भाष्य का ही एक अंश है। उसकी वैसी ही स्थिति है, जैसी पिण्ड-निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति की है। पिण्ड-निर्युक्ति कोई मूलतः स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, वह दशवैकालिक-निर्युक्ति का ही भाग है। उसी प्रकार ओघ-निर्युक्ति भी स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर आवश्यक-निर्युक्ति का ही भाग है। विषय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण पाठकों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया है।

बृहत्कल्पभाष्य का अंश होने के नाते पंचकल्प सूत्र या पंचकल्प-भाष्य श्री संघदास गणी द्वारा रचित ही माना जाता है। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्प सूत्र)

जीअ, जीय या जीत का अर्थ परम्परा से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रकार का रिवाज[1] आदि है। इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में प्रायश्चित्तों का विधान है। एक सौ तीन गाथाएं हैं। इसमें प्रायश्चित्त का महत्त्व, आत्म-शुद्धि या अन्तः-परिष्कार में उसकी उपादेयता आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रायश्चित्त के दस भेदों का यहां विवेचन है : १. आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३ मिश्र-आलोचना-प्रतिक्रमण, ४. विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७. छेद, ८ मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचिक। ऐसी मान्यता है कि आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर अन्तिम दो अनवस्थाप्य और पारांचिक नामक प्रायश्चित्त व्युच्छिन्न हो गये।

रचना : व्याख्या-साहित्य

सुप्रसिद्ध जैन लेखक, विशेषावश्यक-भाष्य जैसे महान् ग्रन्थ के प्रणेता श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सप्तम वि. शती) इस सूत्र के रचयिता माने जाते हैं। क्षमाश्रमण इसके भाष्यकार भी कहे जाते हैं, पर, वह भाष्य वस्तुतः कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर बृहत्कल्प-भाष्य, व्यवहार-भाष्य, पंचकल्प-भाष्य तथा पिण्ड-निर्युक्ति प्रभृति ग्रन्थों की विषयानुरूप भिन्न-भिन्न गाथाओं का संकलन मात्र है। आचार्य सिद्धसेन ने इस ग्रन्थ पर चूर्णी की रचना की। श्रीचन्द्र सूरि ने (१२२८ विक्रमाब्द में) उस (चूर्णि) पर 'विषम-पद-व्याख्या' नामक टीका की रचना की। श्री तिलकाचार्य प्रणीत वृत्ति भी है। यति-जीतकल्प और श्राद्ध-जीतकल्प नामक ग्रन्थ भी जीतकल्प सूत्र से ही सम्बद्ध या तद् विषयान्तर्गत माने जाते हैं। यति-जीतकल्प में यतियों या साधुओं के आचार का वर्णन है और श्राद्ध-जीतकल्प में श्राद्ध-श्रमणोपासक या श्रावक के आचार का विवेचन है। यति-जीतकल्प की रचना श्री सोमप्रभ सूरि ने की। श्री साधुरत्न ने उस पर वृत्ति लिखी। श्राद्ध-जीतकल्प की रचना श्री धर्मघोष द्वारा की गयी। श्री सोमतिलक ने उस पर वृत्ति की रचना की।

---

१. पाइय-सद्द-महण्णवो; पृ० ३५८।

की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत के प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर इसकी रचना की गयी। पूर्व-ज्ञान की परम्परा उस समय अस्तोन्मुख थी; अतः प्रायश्चित्त-विधान जिन्हें प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को भलीभांति जानना चाहिए, कहीं उच्छिन्न या लुप्त न हो जाए, एतदर्थ आचार्य भद्रबाहु ने व्यवहार सूत्र और कल्पसूत्र रचे।

कल्प पर भद्रबाहु कृत निर्युक्ति भी है, जिसकी कर्तृकता असन्दिग्ध नहीं है। श्री संघदास गणी ने लघु भाष्य की रचना की। मलयगिरि ने उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु को निर्युक्ति तथा श्री संघदास गणी का भाष्य; दोनों इस प्रकार परस्पर विमिश्रित जैसे हो गये हैं कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् स्थापित करना असम्भव जैसा है। भाष्य पर आचार्य मलयगिरि ने विवरण की रचना की। पर, वह रचना पूर्ण नहीं थी। लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् श्री क्षेमकीर्ति सूरि ने उसे पूरा किया। बृहत्कल्प पर बृहद् भाष्य भी है, पर, वह पूर्ण नहीं है, केवल तृतीय उद्देशक तक ही प्राप्य है। इस पर विशेष चूर्णि की भी रचना हुई।

६. पंचकल्प (पंच-कल्प)

पंचकल्प सूत्र और पंचकल्प भाष्य; ये दो नाम प्रचलित हैं, जिनसे सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दो ग्रन्थ हों, पर, वास्तव में ऐसा नहीं है। नाम दो है, ग्रन्थ एक। श्री मलयगिरि और श्री क्षेमकीर्ति के अनुसार पंचकल्प-भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प-भाष्य का ही एक अंश है। इसकी वैसी ही स्थिति है, जैसी पिण्ड-निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति की हैं। पिण्ड-निर्युक्ति कोई मूलतः पृथक् ग्रन्थ नहीं है, वह दशवैकालिक-निर्युक्ति का ही भाग है। उसी प्रकार ओघ-निर्युक्ति भी स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर आवश्यक-निर्युक्ति का ही भाग है। विषय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण पाठकों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया है।

बृहत्कल्प-भाष्य का अंश होने के नाते पंचकल्प सूत्र या पंचकल्प-भाष्य श्री संघदास गणी द्वारा रचित ही माना जाना चाहिये। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्प सूत्र)

जीय, जीय या जीत का अर्थ परम्परा से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रकार का रिवाज[1] आदि है। इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में प्रायश्चित्तों का विधान है। एक सौ तीन गाथाएं हैं। इसमें प्रायश्चित्त का महत्त्व, आत्म-शुद्धि या अन्तः-परिष्कार में उसकी उपादेयता आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रायश्चित्त के दस भेदों का यहां विवेचन है : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र-आलोचना-प्रतिक्रमण, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचिक। ऐसी मान्यता है कि आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर अन्तिम दो अनवस्थाप्य और पारांचिक नामक प्रायश्चित्त व्युच्छिन्न हो गये।

रचना : व्याख्या-साहित्य

सुप्रसिद्ध जैन लेखक, विशेषावश्यक-भाष्य जैसे महान् ग्रन्थ के प्रणेता श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सप्तम वि. शती) इस सूत्र के रचयिता माने जाते हैं। क्षमाश्रमण इसके भाष्यकार भी कहे जाते हैं, पर, वह भाष्य वस्तुतः कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर बृहत्कल्प-भाष्य, व्यवहार-भाष्य, पंचकल्प-भाष्य तथा पिण्ड-निर्युक्ति प्रभृति ग्रन्थों की विषयानुरूप भिन्न-भिन्न गाथाओं का संकलन मात्र है। आचार्य सिद्धसेन ने इस ग्रन्थ पर चूर्णी की रचना की। श्रीचन्द्र सूरि ने (१२२८ विक्रमाब्द में) उस (चूर्णि) पर 'विषम-पद-व्याख्या' नामक टीका की रचना की। श्री तिलकाचार्य प्रणीत वृत्ति भी है। यति-जीतकल्प और श्राद्ध-जीतकल्प नामक ग्रन्थ भी जीतकल्प सूत्र से ही सम्बद्ध या तद् विषयान्तर्गत माने जाते हैं। यति-जीतकल्प में यतियों या साधुओं के आचार का वर्णन है और श्राद्ध-जीतकल्प में श्राद्ध-श्रमणोपासक या श्रावक के आचार का विवेचन है। यति-जीतकल्प की रचना श्री सोमप्रभ सूरि ने की। श्री साधुरत्न ने उस पर वृत्ति लिखी। श्राद्ध-जीतकल्प की रचना श्री धर्मघोष द्वारा की गयी। श्री सोमतिलक ने उस पर वृत्ति की रचना की।

---

१. पाइय-सद्द-महण्णवो, पृ० ३५८।

मूल-सूत्र

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति को सामान्यतः मूल सूत्रों के नाम से अभिहित किया जाता है। यह सर्वसम्मत तथ्य नहीं है। कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा आवश्यक; इन तीन को ही मूल सूत्रों में गिनते हैं। वे पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति को मूल सूत्रों में समाविष्ट नहीं करते। जैसा कि पहले इंगित किया गया है, पिण्ड-निर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का तथा ओघ-निर्युक्ति आवश्यक-निर्युक्ति का अंश है। कतिपय विद्वान् उक्त तीन मूल सूत्रों में पिण्ड-निर्युक्ति को सम्मिलित कर उनकी संख्या चार मानते हैं। कुछ के अनुसार, जैसा कि प्रारम्भ में सूचित किया गया है, ओघ-निर्युक्ति सहित वे पांच हैं। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त तीन में से आवश्यक को हटा कर तथा अनुयोगद्वार व नन्दी को उनमें सम्मिलित कर; चार की संख्या पूरी करते हैं। कुछ विद्वान् पक्खिय सुत्त (पाक्षिक सूत्र) का भी इनके साथ नाम संयोजित करते हैं।

मूल सूत्रों में वस्तुतः उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का जैन वाङ्मय में बहुत बड़ा महत्व है। विद्वान् इन्हे जैन आगम-वाङ्मय के प्राचीनतम सूत्रों में गिनते हैं। भाषा की दृष्टि से भी इनकी प्राचीनता अक्षुण्ण है। विषय-विवेचन की अपेक्षा से ये बहुत समृद्ध हैं। सुत्त-निपात व धम्मपद जैसे सुप्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थों से ये तुलनीय हैं। जैन-दर्शन, आचार-विज्ञान तथा तत्सम्मत जीवन के विश्लेपण की दृष्टि से अध्येताओं और अन्वेष्टाओं के लिए ये ग्रन्थ विशेप रूप से परिशीलनीय हैं।

मूल : नामकरण क्यों ?

'मूल-सूत्र' नाम क्यों और कब प्रचलित हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राचीन आगम ग्रन्थो में 'मूल' या 'मूल-सूत्रों' के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। पश्चाद्वर्ती साहित्य में भी सम्भवतः इस नाम का पहला प्रयोग श्री भावदेवसूरि-रचित 'जैनधर्मवरस्तोत्र' के तीसवें श्लोक की टीका में है। वहां "अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्ड-

निर्युक्ति-ओघ-निर्युक्ति-दशवैकालिक इति चत्वारि मूलसूत्राणि" इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विमर्श

गहन अध्ययन, तलस्पर्शी अनुसन्धान और गवेषणा की दृष्टि से योरोपीय देशों के कतिपय विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय पर जिस रुचि और अपरिश्रान्त अध्यवसाय व लगन के साथ जो कार्य किया है, निःसन्देह, वह स्तुत्य है। कार्य किस सीमा तक हो सका, कितना हो सका, उनके निष्कर्ष कितने उपादेय हैं, इत्यादि पहलू तो स्वतन्त्र रूप में चिन्तन और आलोचना के विषय हैं, पर, उनका श्रम उत्साह और सतत प्रयत्नशीलता भारतीय विद्वानों के लिये भी अनुकरणीय है। जैन वाङ्मय तथा प्राकृत भाषा के क्षेत्र में जर्मनी आदि पश्चिमी देशों के विद्वानों ने अधिक कार्य किया है। जैन आगम-साहित्य पर अनुसन्धान-कर्ता विद्वानों के प्रस्तुत विषय पर जो भिन्न-भिन्न विचार हैं, उन्हें यहां प्रस्तुत किया जाता है।

प्रो० शर्पेण्टियर का मत

जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्या-अध्येता प्रो० शार्पेण्टियर (Prof. Charpentier) ने उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावना में इस मूल सूत्र नामकरण के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसके अनुसार इनमें भगवान् महावीर के कुछ शब्दों (Mahavira's own words) का संगृहीत होना है। इसका आशय यह है कि इनमें जो शब्द सकलित हुए हैं, वे स्वयं भगवान् महावीर के मुख से निःसृत हैं।

डा० वाल्टर शुब्रिंग का अभिमत

जैन वाङ्मय के विख्यात अध्येता जर्मनी के विद्वान् डा०वाल्टर शुब्रिंग (Dr. Walter Schubring) ने Lax Religion Dyaina[1] नामक (जर्मन भाषा में लिखित) पुस्तक में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि मूल सूत्र नाम इसलिए दिया गया प्रतीत होता है कि साधुओं और साध्वियों के साधनामय जीवन के मूल में—प्रारम्भ में उनके उपयोग के लिए इनका सर्जन हुआ।

१. पृष्ठ ७९

प्रो० गेरीनो की कल्पना

जैन शास्त्रों के गहन अनुशीलक इटली के प्रोफेसर गेरीनो (Prof. Guerinot) ने इस सम्बन्ध में एक दूसरी कल्पना की है। वैसा करते समय उनके मस्तिष्क में ग्रन्थ के दो 'मूल' और 'टीका' का ध्यान रहा है; अतः उन्होंने मूलका आशय Traitco Original से लिया। अर्थात् प्रो० गेरीनो ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में मूल सूत्र का प्रयोग माना; क्योंकि इन ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, वृत्ति प्रभृति अनेक प्रकार का विपुल व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है। टीका या व्याख्या-ग्रन्थों में उस ग्रन्थ को सर्वत्र 'मूल' कहा जाता है, जिसकी वे टीकाएँ या व्याख्याएँ होती हैं। जैन आगम वाङ्मय-सम्बन्धी ग्रन्थों में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर अत्यधिक टीका-व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है, जिनमें प्रो० गेरीनो के अनुसार टीकाकारों ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में 'मूल सूत्र' का प्रयोग किया हो। उसी परिपाटी का सम्भवतः यह परिणाम रहा हो कि इन्हें मूल सूत्र कहने की परम्परा आरम्भ हो गई हो।

समीक्षा

पाश्चात्य विद्वानों ने जो कल्पनाएँ की हैं, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार है, पर, समीक्षा की कसौटी पर कसने पर वे सर्वांशतः खरी नहीं उतरतीं। प्रो० शर्पेण्टियर ने भगवान् महावीर के मूल शब्दों के साथ इन्हें जोड़ते हुए जो समाधान उपस्थित किया, उसे उत्तराध्ययन के लिए तो एक अपेक्षा से संगत माना जा सकता है, पर, दशवैकालिक आदि के साथ उसकी बिलकुल संगति नहीं है। भगवान् महावीर के मूल या साक्षात् वचनों के आधार पर यदि मूल सूत्र नाम पड़ता, तो यह आचारांग, सूत्रकृतांग जैसे महत्वपूर्ण अंग ग्रन्थों के साथ भी जुड़ता, जिनका भगवान् महावीर की देशना के साथ (गणधरों के माध्यम से) सीधा सम्बन्ध माना जाता है। पर वहाँ ऐसा नहीं है; अतः इस कल्पना में विहित मूल शब्द का वह आशय यथावत् रूप में घटित नहीं होता।

डा० वाल्टर शुब्रिंग ने श्रमण-जीवन के प्रारम्भ में—मूल में पालनीय आचार-सम्बन्धी नियमों, परम्पराओं एवं विधि-विधानों के

के विश्लेषण की दृष्टि से मूल-सूत्र नाम दिये जाने का समाधान प्रस्तुत किया है, वह भी मूल-सूत्रों के अन्तर्गत माने जाने वाले सब ग्रन्थों पर कहां घटता है ? दशवैकालिक की तो लगभग वैसी स्थिति है, पर, अन्यत्र बहुलांशतया वैसा नहीं है। उत्तराध्ययन में, जो मूल-सूत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, श्रमण-चर्या से सम्बद्ध नियमोपनियमों तथा विधि-विधानों के अतिरिक्त उसमें जैन-धर्म और दर्शन-सम्बन्धी अनेक विषय व्याख्यात किये गये हैं। अनेक दृष्टान्त, कथानक तथा ऐतिहासिक घटना-क्रम भी उपस्थित किये गए हैं, जो श्रमण-संस्कृति और जैन तत्त्व-धारा के विविध पहलुओं से जुड़े हुए हैं इसलिए डा. वाल्टर शुब्रिग के समाधान को भी एकांगी चिन्तन से अधिक नहीं कहा जा सकता। मूल-सूत्रों में जो सन्निहित है, शुब्रिग की व्याख्या में वह सम्पूर्णतया अन्तर्भूत नहीं होता।

इटालियन विद्वान् प्रो. गेरीनो ने मूल और टीका के आधार पर मूल-सूत्र नाम पड़ने की कल्पना की है वह बहुत स्थूल तथा बहिर्गामी चिन्तन पर आधृत है। उसमें सूक्ष्म गवेषणा या गहन विमर्श की दृष्टि प्रतीत नहीं होती। मूल-सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों पर भी अनेक टीकाएँ हैं। परिणाम की न्यूनता-अधिकता हो सकती है। उससे कोई विशेष फलित निष्पन्न नहीं होता अतः इस विश्लेषण की अनुपादेयता स्पष्ट है।

उपर्युक्त ऊहापोह के सन्दर्भ में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन, धर्म, आचार एवं जीवन के मूलभूत आदर्शों, सिद्धान्तों या तथ्यों का विश्लेषण अपने आप में सहेजे रखने के कारण सम्भवतः ये मूल-सूत्र कहे जाने लगे हों। सम्भवतः उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की विषय-वस्तु पर यदि दृष्टिपात किया जाए, तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

१. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)

नाम : विश्लेषण

उत्तराध्ययन शाब्दिक दृष्टि से उत्तर और अध्ययन, इन दो शब्दों की समन्विति से बना है। उत्तर शब्द का एक अर्थ पश्चात् या

पश्चाद्वर्ती है। दूसरा अर्थ उत्कृष्ट या श्रेष्ठ है। इसका अर्थ प्रश्न का समाधान या उत्तर तो है ही।

पश्चाद्वर्ती अर्थ के आधार पर उत्तराध्ययन की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि इसका अध्ययन आचारांग के उत्तर-काल में होता था। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के अनन्तर इसके अध्ययन की कालिक परम्परा में अन्तर आया। यह दशवैकालिक के उत्तर-काल में पढ़ा जाने लगा। पर, 'उत्तराध्ययन' संज्ञा में कोई परिवर्तन करना अपेक्षित नहीं हुआ; क्योंकि दोनों ही स्थानों पर पश्चाद्-वर्तिता का अभिप्राय सदृश ही है।

उत्तर शब्द का उत्कृष्ट या श्रेष्ठ अर्थ करने के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस शब्द की यह व्याख्या की कि जैन श्रुत का असाधारण रूप में उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ विवेचन है; अतः इसका उत्तराध्ययन अभिधान अन्वर्थक है।

प्रो० ल्युमैन (Prof. Leuman) ने उत्तर और अध्ययन शब्दों का सीधा अर्थ पकड़ते हुए अध्ययन का आशय Later Readings अर्थात् पश्चात् या पीछे रचे हुए अध्ययन किया। प्रो० ल्युमैन के अनुसार इन अध्ययनों की या इस आगम की रचना अंग-ग्रन्थों के पश्चात् या उत्तर काल में हुई; अतएव यह उत्तराध्ययन के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

कल्पसूत्र तथा टीका-ग्रन्थों में उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम समय में अपृष्ट—अनपूछे छत्तीस प्रश्नों के संदर्भ में विश्लेषण-विवेचन किया। इस आधार पर उन अध्ययनों का संकलन 'अपृष्ट-व्याकरण' नाम से अभिहित हुआ। उसी का नाम अपृष्ट प्रश्नों का उत्तर-रूप होने के कारण उत्तराध्ययन हो गया। 'अपृष्ट-व्याकरण' की चर्चा आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित महाकाव्य' में भी की है।[1]

---

१. षट्त्रिंशतमप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च।
प्रधानं नामाध्ययनं जगद्गुरुरभापयत्॥

—पर्व १०, सर्ग १३, श्लो० २२४

विमर्श

कल्पसूत्रकार तथा टीकाकारों द्वारा दिया गया समाधान तथा प्रो० ल्युमैन द्वारा किया गया विवेचन, दोनों परस्पर भिन्न हैं। भगवान् महावीर ने बिना पूछे छत्तीस प्रश्नों के उत्तर दिये, उनका संकलन हुआ —उत्तराध्ययन के अस्तित्व में आने के सम्बन्ध में यह कल्पना परम्परा-पुष्ट होते हुए भी उतनी हृद् ग्राह्य प्रतीत नहीं होती। भगवान् महावीर ने अपृष्ट प्रश्नों के उत्तर दिये, इसके स्थान पर यह भाषा क्या अधिक संगत नहीं प्रतीत होती कि उन्होंने अन्तिम समय में कुछ धार्मिक उपदेश, विचार या सन्देश दिये। फिर वहां उत्तर शब्द भी न आ कर 'व्याकरण' शब्द आया है, जिसका अर्थ— विश्लेषण है। यदि अन्तिम के अर्थ में उत्तर शब्द का प्रयोग माना जाता, तो फिर कुछ संगति होती। पर, जवाब के अर्थ में उत्तर शब्द का यहां ग्रहण उत्तराध्ययन सूत्र के स्वरूप के साथ सम्भवतः उतना मेल नहीं खाता जितना होना चाहिए। उत्तराध्ययन में दृष्टान्त है, कथानक हैं, घटना-क्रम हैं—यह सब उत्तर शब्द के अभिप्राय में अन्तर्भूत हो जाएं, कम संगत प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी उत्तर शब्द वस्तुतः प्रश्न-सापेक्ष है। प्रश्न के बिना जो कुछ भी कहा जाए, वह व्याख्यान, विवेचन, विश्लेषण, निरूपण आदि सब हो सकता है, पर, उसे उत्तर कैसे कहा जाए? नियुक्तिकार ने उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे यही तथ्य बाधित है।

प्रो० ल्युमैन ने जो कहा है उसकी तार्किक असंगति नहीं है। भाषा-शास्त्रियों ने जो परिशीलन किया है, उसके अनुसार उत्तराध्ययन की भाषा प्राचीन है, पर, उससे प्रो० ल्युमैन का कथन खण्डित नहीं होता। उन्होंने इसकी विशेष अर्वाचीनता तो स्थापित की नहीं है, इसे अंग-ग्रन्थों से पश्चाद्वर्ती बताया है। वैसा करने में कोई असम्भावना प्रतीत नहीं होती।

एक प्रश्न और उठता है, अंग-ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती तो अनेक ग्रन्थ हैं, पश्चाद्वर्तिता या उत्तरवर्तिता के कारण केवल इसे ही उत्तराध्ययन क्यों कहा गया? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह अंग ग्रन्थों के समकक्ष महत्व लिये हुए है। रचना, विषय-वस्तु, विश्लेषण

आदि की दृष्टि से उन्हीं की कोटि का है; अतः इसे ही विशेष रूप से इस अभिधा से संज्ञित किया गया है, यह भी एक अनुमान है। उससे अधिक कोई ठोस तथ्य इससे प्रकट नहीं होता।

संक्षेप में विशाल जैन तत्त्व-ज्ञान तथा आचार-शास्त्र को व्यक्त करने में आगम-वाङ्मय में इसका असाधारण स्थान है। भगवद्गीता जिस प्रकार समग्र वैदिक धर्म का निष्कर्ष या नवनीत है, जैन धर्म के सन्दर्भ में उत्तराध्ययन की भी वही स्थिति है। काव्यात्मक हृदयस्पर्शी शैली, ललित एवं पेशल संवाद, साथ ही साथ स्वभावतः सालंकार भाषा प्रभृति इसकी अनेक विशेषताएँ है, जिसने समीक्षक तथा अनुसन्धित्सु विद्वानों को बहुत आकृष्ट किया है। डा० विण्टरनित्ज ने इसे श्रमणकाव्य के रूप में निरूपित किया है तथा महाभारत, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि के साथ इसकी तुलना की है।

उत्तराध्ययन का महत्व केवल इन शताब्दियों में ही नहीं उभरा है, प्रत्युत बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। निर्युक्तिकार ने तीन गाथाएँ उल्लिखित करते हुए इसके महत्व का उपपादन किया है: "जो जीव भवसिद्धिक हैं-भव्य हैं, परित्तसंसारी हैं, वे उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन पढ़ते हैं। जो जीव अभवसिद्धिक हैं-अभव्य हैं, ग्रन्थिक सत्व हैं—जिनका ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ है, जो अनन्त संसारी हैं, संक्लिष्टकर्मा हैं, वे उत्तराध्ययन पढ़ने के अयोग्य हैं। इसलिए (साधक को) जिनप्रज्ञप्त, शब्द और अर्थ के अनन्त पर्यायों से संयुक्त इस सूत्र को यथाविधि (उपधान आदि तप द्वारा) गुरुजनों के अनुग्रह से अध्ययन करना चाहिये।"[1]

---

१. जे किर भवसिद्धिया, परित्तसंसारिश्रा य भविश्रा य।
ते किर पढ़ंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥ १
जे हुंति अभवसिद्धिया, गंथिश्रसत्ता अणंतसंसारा।
ते संकिलिट्ठकम्मा, अभविया उत्तरज्झाए ॥ २
तम्हा जिणपण्णत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरुपसाया अहिज्जिज्जा ॥ ३

उत्तराध्ययन सूत्र छत्तीस अध्ययनों में विभक्त है। समवायांग सूत्र के छत्तीसवें समवाय में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के शीर्षकों का उल्लेख है, जो उत्तराध्ययन में प्राप्त अध्ययनों के नामों से मिलते हैं। उत्तराध्ययन के जीवाजीवविभक्ति संज्ञक छत्तीसवें अध्ययन के अन्त में प्रयुक्त शब्दों में इस ओर संकेत है "भवसिद्धिक जीवों के लिये सम्मत उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन प्रादुर्भूत कर ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ भगवान् महावीर परिनिर्वृत-मुक्त हो गये।"[1] उत्तराध्ययन के नाम सम्बन्धी विश्लेषण के प्रसंग में यह चर्चित हुआ ही है कि भगवान् महावीर ने अपने अन्त समय[2] में इन छत्तीस अध्ययनों का व्याख्यान किया।

नियुक्तिकार का अभिमत

नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का अभिमत उपर्युक्त पारम्परिक मान्यता के प्रतिकूल है। उन्होंने इस सम्बन्ध में नियुक्ति में लिखा है: "उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अंग-प्रभव हैं, कुछ जिन-भाषित हैं, कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा निरूपित हैं, कुछ संवाद-प्रसूत हैं। इस प्रकार बन्धन से छूटने का मार्ग बताने के हेतु उसके छत्तीस अध्ययन निर्मित हुए।"[3]

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवेताल श्री शान्तिसूरि ने नियुक्तिकार के मत को स्वीकार किया है। उनके अनुसार उत्तराध्ययन के दूसरे परिषहाध्ययन की रचना द्वादशांगी के बारहवें अंग दृष्टिवाद के कर्मप्रवादसंज्ञक पूर्व के ७० वें प्राभृत के आधार पर हुई है। अष्टम कापिलीय अध्ययन कपिल नामक प्रत्येक-

---

१. इइ पाउकरे बुद्धे णायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धिय सम्मए॥

२. जैन-परम्परा में ऐसा माना जाता है कि दीपावली की अन्तिम रात्रि में भगवान् महावीर ने इन छत्तीस अध्ययनों का निरूपण किया।

३. अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥

—नियुक्ति, गाथा ४

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित है। दशवां द्रुमपुष्पिका अध्ययन स्वयं अर्हत महावीर द्वारा भाषित है। तेईसवां केशि-गौतमीय अध्ययन संवादरूप में आकलित है।

'भद्रबाहुना प्रोक्तानि' का अभिप्राय

"भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाह्वानि उत्तराध्ययनानि"—इस प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे कुछ विद्वान् सोचते हैं कि उत्तराध्ययन के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। सबसे पहले विचारणीय यह है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति के लेखक भद्रबाहु हैं। जैसा कि पूर्व सूचित किया गया है, वे उत्तराध्ययन की रचना में अंगप्रभवता जिन-भाषितता, प्रत्येकबुद्ध-प्रतिपादितता, संवाद-निष्पन्नता आदि कई प्रकार के उपपादक हेतुओं का आख्यान करते हैं। उपर्युक्त कथन से 'भद्रबाहुना' के साथ 'प्रोक्तानि' क्रिया-पद प्रयुक्त हुआ है। प्रोक्तानि का अर्थ 'रचितानि' नहीं होता। प्रकर्षेण उक्तानि—प्रोक्तानि के अनुसार उसका अर्थ विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित होता है। शाकटायन[1] और सिद्ध हैमशब्दानुशासन[2] आदि व्याकरणों में यही आशय स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन के अनुसार आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययन के प्रकृष्ट व्याख्याता, प्रवक्ता या प्राध्यापयिता हो सकते हैं, रचयिता नहीं।

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं, उत्तराध्ययन के पूर्वार्द्ध के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं तथा उत्तरार्द्ध के अठारह अध्ययन अर्वाचीन। इसके लिए भी कोई प्रमाण-भूत या इत्थंभूत भेद-रेखा-मूलक तथ्य या ठोस आधार नहीं मिलते।

विमर्ष : समीक्षा

समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करें, तो यह समग्र आगम भगवान् महावीर द्वारा ही भाषित हुआ हो या किसी एक व्यक्ति ने इसकी

---

१. टः प्रोक्ते ३/१/६६

—शाकटायन

२. तेन प्रोक्ते ६/३/१८

—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

दृष्टान्त : कथानक

दूसरा महत्वपूर्ण अंग है, इसका रूपक, दृष्टान्त व कथानक-भाग। इनके माध्यम से तत्त्व-ज्ञान और आचार-धर्म का विशद विवेचन हुआ है, जिसका अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। पच्चीसवां अध्ययन इसका उदाहरण है, जहां अध्यात्म-यज्ञ, उसके अंगोपांगों एवं उपकरणों का हृदयस्पर्शी विवेचन है। इस प्रकार के अनेक प्रकरण हैं, जहां उपमाओं तथा रूपकों का ऐसा सुन्दर और सहज सन्निवेश है कि विवेच्य विषय साक्षात् उपस्थित हो जाता है। नवम अध्ययन में इन्द्र और राजर्षि नमि का प्रकरण अनासक्त तितिक्षु एवं मुमुक्षु जीवन का एक सजीव तथा असाधारण चित्र प्रस्तुत करता है। बारहवां हरिकेशीय अध्ययन उत्तराध्ययन का एक क्रान्तिकारी अध्याय है, जहां चाण्डाल-कुलोत्पन्न मुनि हरिकेशबल के तपः-प्रभाव और साधना-निरत जीवन की गरिमा इतनी उत्कृष्टतया उपस्थित है कि, जाति, कुल आदि का मद, दम्भ और अहंकार स्वयमेव निस्तेज तथा निस्तथ्य हो जाते हैं।

बाईसवां रथनेमीय अध्ययन आत्म-पराक्रम, ब्रह्म-ओज जागृत करने की पूरकता के साथ-साथ अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। तीर्थंकर अरिष्टनेमि की जीवन झांकी, उनके द्वारा लौकिक एषणा और कामना का परित्याग, श्रमण रथनेमि का अन्तर्दौर्बल्य, वासना का उभार, राजीमती द्वारा उद्बोधन प्रभृति ऐसे रोमांचक प्रसंग हैं, जिनकी भावना और प्रज्ञा;. दोनों के प्रकर्ष की दृष्टि से कम गरिमा नहीं है।

तेईसवां केशि-गौतमीय अध्ययन है, जो भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण महामुनि केशी तथा भगवान् महावीर के अनन्य अन्तेवासी गणधर गौतम के परस्पर मिलन, प्रश्नोत्तर—संवाद आदि बहुमूल्य सामग्री लिये हुए है। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व की परम्परा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की परम्परा में किस प्रकार समन्वित रूप में विलीन होती जा रही थी, प्रस्तुत अध्ययन इसका ज्वलन्त साक्ष्य है। चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रतों के तुलनात्मक परिशीलन की दृष्टि से भी यह अध्ययन पठनीय है।

व्याख्या-साहित्य

उत्तराध्ययन सूत्र पर व्याख्यात्मक साहित्य विपुल परिमाण में विद्यमान है। आचार्य भद्रबाहु ने इस पर नियुक्ति लिखी। श्री जिनदास महत्तर ने चूर्णि की रचना की। थारापद्र-गच्छ से सम्बद्ध वादिवेताल विरुदालंकृत श्री शान्तिसूरि ने 'पाई' या 'शिष्यहिता' नामक टीका की रचना की, जो उत्तराध्ययन-बृहद्-वृत्ति भी कहलाती है। श्री शान्तिसूरि का स्वर्गवास-काल ई० सन् १०४० माना जाता है। इस टीका के आधार पर, श्री देवेन्द्र गणी ने, जो आगे चल कर श्री नेमिचन्द्र सूरि के नाम से विख्यात हुए, 'सुखबोधा' नामक टीका लिखी, जो सन् १०७३ में समाप्त हुई।

उत्तराध्ययन पर टीकाएं लिखने वाले अनेक जैन विद्वान् हैं, जिनमें लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, विनयहंस तथा हर्षकुल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर कार्य किया है। उदाहरणार्थ प्रो० शार्पेन्टियर ने मूल पाठ अंग्रेजी प्रस्तावना सहित प्रस्तुत किया है। आगम-वाङ्मय के विख्यात अन्वेषक डा० जैकोबी ने अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो प्रो० मैक्समूलर के सम्पादकत्व में Sacred books of the East. के पैंतालीसवें भाग में आक्सफोर्ड से सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ।

२. आवस्सय (आवश्यक)

नाम : सार्थकता

अवश्य से आवश्यक शब्द बना है। अवश्य का अर्थ है, जिसे किये बिना बचाव नहीं, जो जरूर किया जाना चाहिए। इसके अनुसार आवश्यक का आशय श्रमण द्वारा करणीय उन भाव-क्रियानुष्ठानों से है, जो श्रमण-जीवन के निर्बाध तथा शुद्ध निर्वहण की दृष्टि से आवश्यक वे है। क्रियानुष्ठान संख्या में छः हैं; अतः इस सूत्र को षडावश्यक भी कहा जाता है। यह छः विभागों में विभक्त है,

जिसमें क्रमशः सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का वर्णन है।

सामायिक

अन्तरतम में समभाव की अवतारणा सामायिक है। एतदर्थ साधक मानसिक, वाचिक तथा कायिक दृष्टि से, कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप से समग्र सावद्य—सपाप योगों—प्रवृत्तियों से पराङ्मुख रहने का प्रथम आवश्यक में वर्णन है।

चतुर्विंशति-स्तव

द्वितीय आवश्यक में लोक में धर्म का उद्योत करने वाले चौवीस तीर्थंकरों का वर्णन है, जिससे आत्मा में तदनुरूप दिव्य भाव का उद्रेक होता है।

वन्दन

तीसरा आवश्यक वन्दन से सम्बद्ध है। शिष्य गुरु-चरणों में स्थित होता है, उनसे क्षमा-याचना करता है, उनके संयमोपकरणभूत देह की सुख-पृच्छा करता है।

प्रतिक्रमण

चौथे आवश्यक में प्रतिक्रमण का विवेचन है। प्रतिक्रमण का अर्थ वहिर्गामी जीवन से अन्तर्गामी जीवन में प्रत्यावृत्त होना है अर्थात् साधक यदि प्रमादवश शुभ योग से चलित होकर अशुभ योग को प्राप्त हो जाए, तो वह पुनः शुभ योग में संस्थित होता है। यदि उसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में श्रमण-धर्म की विराधना हुई हो, किसी को कष्ट पहुँचाया गया हो, स्वाध्याय आदि में प्रमादाचरण हुआ हो, तो वह (प्रतिक्रमण करने वाला साधक) उनके लिये 'मिच्छामि दुक्कड़'—मिथ्या मे दुष्कृतम्—ऐसी भावना से उद्भावित होता है, जिसका अभिप्राय जीवन को संयमानुकूल, पवित्र और सात्त्विक भावना से आप्यायित बनाये रखना है।

कायोत्सर्ग

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग से सम्बद्ध है। कायोत्सर्ग का आशय है—देह-भाव का विसर्जन और आत्म-भाव का सर्जन। यह ध्यानात्मक स्थिति है, जिसमें साधक दैहिक चांचल्य और अस्थैर्य का वर्जन कर निश्चलता में स्थित रहना चाहता है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक में सावद्य—सपाप कार्यों से निवृत्तता तथा अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि के प्रत्याख्यान की चर्चा है।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक पर निर्युक्ति की रचना की। इस पर भाष्य भी रचा गया। आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण द्वारा अत्यन्त विस्तार और गम्भीरता के साथ "विशेषावश्यक भाष्य" की रचना की गयी, जो जैन साहित्य में निःसन्देह एक अद्भुत कृति है। श्री जिनदास महत्तर ने चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस पर टीका लिखी, जो 'शिष्यहिता 'के नाम से विश्रुत है। इसमें आवश्यक के छः प्रकरणों का पेंतीस अध्ययनों में सूक्ष्मतया विवेचन—विश्लेषण किया गया है। यहां प्रासंगिक रूप में प्राकृत की अनेक प्राचीन कथाएं भी दी गयी है। आचार्य मलयगिरि ने भी टीका की रचना की। श्री माणिक्यशेखरसूरि द्वारा इसकी निर्युक्ति पर दीपिका की रचना की गयी। श्री तिलकाचार्य द्वारा इस पर लघुवृत्ति की रचना हुई।

३. दसवेयालिय (दशवैकालिक)

नाम : अन्वर्थकता

दश और वैकालिक; इन दो शब्दों के योग से नाम की निष्पत्ति हुई है। सामान्यतः दश शब्द दश अध्ययनों का सूचक है और वैकालिक का सम्बन्ध रचना, निर्यूहण या उपदेश से है। विकाल का अर्थ सन्ध्या है। वैकालिक विकाल का विश्लेषण है। ऐसा माना जाता

है कि सन्ध्या समय में अध्ययन किये जाने के कारण यह नाम प्रचलित हुआ। ऐसी भी मान्यता है कि दश विकालों या सन्ध्याओं में रचना, निर्यूहण या उपदेश किया गया। अतः यह दशवैकालिक कहा जाने लगा। इसके रचनाकार या निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव थे, जिन्होंने अपने पुत्र वाल मुनि मनक के लिए इसकी रचना की। अंगवाह्यगत उत्कालिक सूत्रों में दशवैकालिक का प्रथम स्थान है।

दश अध्ययनों तथा दो चूलिकाओं में यह सूत्र विभक्त है। दश अध्ययन संकलनात्मक हैं। चूलिकाएँ स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती हैं। चूलिकाओं के रचे जाने के सम्वन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार वे आचार्य शय्यम्भव कृत ही होनी चाहिए। इतना सम्भावित हो सकता है, चूलिकाओं की रचना दश अध्ययनों के पश्चात् हुई हो। सूत्र और चूलिकाओं की भाषा इतनी विसदृश नहीं है कि उससे दो भिन्न रचयिताओं का सूचन हो। कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार चूलिकाएँ किसी अन्य लेखक की रचनाएँ हैं, जो दश अध्ययनों के साथ जोड़ दी गयीं।

संकलन : आधार : पूर्व श्रुत

आचार्य भद्रवाहु द्वारा निर्युक्ति में किये गये उल्लेख के अनुसार दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन का आधार आत्म-प्रवाद-पूर्व, पंचम अध्ययन का आधार आत्म-प्रवाद पूर्व, सप्तम अध्ययन का आधार सत्य-प्रवाद-पूर्व तथा अन्य अध्ययनों का आधार प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु है।

दूसरा आधार : अन्य आगम

श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव ने अनेकानेक आगमों का दोहन कर सार रूप में दशवैकालिक को संग्रथित किया। दशवैकालिक में वर्णित विषयों का यदि सूक्ष्मता से परीक्षण किया जाए, तो प्रतीत होगा कि, वे विविध आगम-ग्रन्थों से वहुत निकटतया संलग्न हैं। दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन का शीर्षक 'श्रामण्यपूर्वक' है। उसमें

श्रमण को भागराग या विषय-वासना में बचते रहने का उपदेश दिया गया है। उस सन्दर्भ में रथनेमि और राजीमती का प्रसंग भी संक्षेप में संकेतित है। यह अध्ययन उत्तराध्ययन के बाईसवें 'रथनेमि' अध्ययन के बहुत निकट है। उत्तराध्ययन में रथनेमि और राजीमती का इतिवृत्त अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णित है, पर, दोनों की मूल ध्वनि एक ही है।

चतुर्थ अध्ययन का शीर्षक 'षड्जीवनिकाय' है। इसमें षट्कायिक जीवों का संक्षेप में वर्णन करने के उपरान्त उनकी हिंसा के प्रत्याख्यान का प्रतिपादन है। इसमें सलग्न प्रथम अहिंसा महाव्रत का विवेचन है। तदनन्तर पांच महाव्रतों का वर्णन है। आरम्भ-समारम्भ से पाप-बन्ध का प्रतिपादन करते हुए उनसे निवृत्त होने का सुन्दर चित्रण है। यह अध्ययन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पन्द्रहवें अध्ययन के उत्तरार्द्ध से तुलनीय है। इस अध्ययन के पूर्व भाग में भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त विस्तार से उल्लिखित है तथा उत्तर भाग में महावीर द्वारा गौतम आदि निर्ग्रन्थों को उपदिष्ट किये गये पांच महाव्रतों तथा पृथ्वीकाय प्रभृति षड्-जीवनिकाय का विश्लेषण है। दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की सामग्री का संकलन आचारांग के इसी अध्ययन से हुआ हो, ऐसा सम्भाव्य प्रतीत होता है।

पंचम अध्ययन का शीर्षक 'पिण्डैषणा' है। इसमें श्रमण की भिक्षा-चर्या के सन्दर्भ में सभी पहलुओं से बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। भिक्षा के लिये किस प्रकार जाना, नहीं जाना, किस-किस स्थिति में भिक्षा लेना, किस-किस में नहीं लेना; इत्यादि का समीचीन विशद रूप में विवेचन किया गया है। इस अध्ययन की विषय-वस्तु आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के प्रथम अध्ययन से आकलित प्रतीत होती है। उसकी संज्ञा भी 'पिण्डैषणा' ही है।

सातवें अध्ययन का शीर्षक 'वाक्य-शुद्धि' है। इसमें श्रमण के द्वारा किस प्रकार की भाषा प्रयोज्य है, किस प्रकार की अप्रयोज्य; इस वर्णन के साथ संयमी के विनय और पवित्रता-पूर्ण आचार पर प्रकाश

डाला गया है। जिस-जिस प्रकार के भाषा-प्रयोग और व्यवहार-चर्या का उल्लेख किया गया है, वह श्रमण के अनासक्त, निर्लिप्त, अमूर्च्छित, जागरूक तथा आत्म-लीन जीवन के विकास से सम्बद्ध है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'भाषाजात' है। उसमें साधु द्वारा प्रयोग करने योग्य, न करने योग्य भाषा का विश्लेषण है। दशवैकालिक के उक्त अध्ययन, में किसी अपेक्षा से इसकी अवतारणा हुई हो, ऐसा अनुमेय है।

'विनय-समाधि' नवम अध्ययन है। इसमें गुरु के प्रति शिष्य का व्यवहार सदा विनय-पूर्ण रहे, इस पर सुन्दर रूप में प्रकाश डाला गया है। विनय-पूर्ण व्यवहार के सुलाभ और अविनय-पूर्ण व्यवहार के दुर्लभ हृद्य उपमाओं द्वारा वर्णित किये गये हैं। यह अध्ययन उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन 'विनय-श्रुत' से विशेष मिलता-जुलता है, जहां गुरु के प्रति शिष्य के विनयाचरण की उपादेयता और अविनयाचरण की वर्ज्यता का विवेचन है।

दशम अध्ययन का शीर्षक 'स भिक्षुः' है। अर्थात् इस अध्ययन में भिक्षु के जीवन, उसकी दैनन्दिन चर्या, व्यवहार, संयमानुप्राणित अध्यवसाय, आसक्ति-वर्जन, अलोलुपता आदि का सजीव चित्रण है। दूसरे शब्दों में भिक्षु के यथार्थ रूप का एक रेखांकन है, जो साधक के लिये बड़ा उत्प्रेरक है। उत्तराध्ययन का पन्द्रहवां अध्ययन भी इसी प्रकार का है। उसका शीर्षक भी यही है। दोनों का बहुत साम्य है। भाव ही नहीं, शब्द-रचना तथा छन्द-गठन में भी अनेक स्थानों पर एकरूपता है। ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है कि दशवैकालिक का दशवां अध्ययन उत्तराध्ययन का पन्द्रहवें अध्ययन का बहुत कुछ रूपान्तरण है।

चूलिकाएं

रति-वाक्या

दशम अध्ययन की समाप्ति अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में दो चूलिकाएँ हैं। पहली चूलिका 'रति-वाक्या' है। अध्यात्म-रस में पगे व्यक्तियों

के लिए भिक्षु-जीवन अत्यन्त आह्लादमय है। पर, भौतिक दृष्टि से उसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं, पद-पद पर असुविधाएँ हैं। क्षण-क्षण प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है। दैहिक भोग अग्राह्य हैं ही। ये सब प्रसंग ऐसे है, जिनके कारण कभी-कभी मानव-मन में दुर्बलता उभरने लगती है। यदि कभी कोई भिक्षु ऐसी मन स्थिति में आ जाएँ, तो उसे संयम में टिकाये रखने के लिए, उसमें पुन. दृढ़ मनोबल जगाने के लिए उसे जो अन्त -प्रेरक तथा उद्बोधक विचार दिये जाने चाहिए, वही सब प्रस्तुत चूलिका में विवेचित है।

सांसारिक जीवन की दु.खमयता, विषमता, भोगो की नि.सारता, अल्पकालिकता, परिणाम-विरसता, अनित्यता, सयमी जीवन की सार-मयता, पवित्रता, आदेयता आदि विभिन्न पहलुओ पर विशद-प्रकाश डाला गया है तथा मानव मे प्राणपण से धर्म का प्रतिपालन करने का भाव भरा गया है। वैषयिक भोग, वासना, लौकिक सुविधा और दैहिक सुख से आकृष्ट होते मानव को उनसे हटा आत्म-रमण, संयमा-नुपालन तथा तितिक्षामय जीवन मे पुन. प्रत्यावृत्त करने में बड़ी मनोवैज्ञानिक निरूपण शैली का व्यवहार हुआ है, जो रोचक होने के साथ शक्ति-संचारक भी है। संयम में रति-अनुराग-तन्मयता उत्पन्न करने वाले वाक्यों की संरचना होने के कारण ही सम्भवतः इस चूलिका का नाम 'रति वाक्या' रखा गया हो।

विविक्तचर्या

दूसरी चूलिका विविक्तचर्या है। विविक्त का अर्थ नियुक्त, पृथक्, निवृत्त, एकाकी, एकान्त स्थान या विवेकशील है। इसका आशय उस जीवन से है, जो सांसारिकता से पृथक् है। दूसरे शब्दों में निवृत्त है; अतएव विवेकशील है। इस चूलिका में श्रमण जीवन को उद्दिष्ट कर अनुस्रोत में न बह प्रतिस्रोतगामी बनने, आचार-पालन में पराक्रमशील रहने, अल्प-सीमित उपकरण रखने, गृहस्थ से वैयावृत्य-शारीरिक सेवा न लेने, सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर संयम-जीवन को सदा सुरक्षित बनाये रखने आदि के सन्दर्भ में अनेक ऐसे उल्लेख किये गये हैं, जिनका अनुसरण करता हुआ भिक्षु प्रतिबुद्धजीवी बनता है।

विशेषता : महत्त्व

अति संक्षेप में जैन-तत्त्व दर्शन एवं आचार-शास्त्र व्याख्यात करने की अपनी असाधारण विशेषता के साथ-साथ शब्द-रचना, शैली तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी इस सूत्र का कम महत्व नहीं है। इसमें प्रयुक्त भाषा के अनेक प्रयोग अति प्राचीन प्रतीत होते हैं, जो आचारांग तथा सूत्रकृतांग जैसे प्राचीनतम आगम-ग्रन्थों में हुए भाषा-प्रयोगों से तुलनीय हैं। उतराध्ययन में हुए भाषा के प्राचीनता-द्योतक प्रयोगों के समकक्ष इसमें भी उसी प्रकार के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। यह अर्द्धमागधी भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध एक स्वतन्त्र विषय है, जिस पर विशेष चर्चा करना प्रसंगोपात नहीं है। प्राकृत के सुप्रसिद्ध अध्येता एवं वैयाकरणी डा. पिशल ने उतराध्ययन तथा दशवैकालिक को प्राकृत के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण बतलाया है।

व्याख्या-साहित्य

दशवैकालिक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की। श्री अगस्त्यसिंह तथा श्री जिनदास महत्तर द्वारा चूर्णियां लिखी गयीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका की रचना की। श्री समयसुन्दर गणी ने दीपिका लिखी। श्री तिलकाचार्य या श्री तिलकसूरि, श्री सुमतिसूरि तथा श्री विनयहंस प्रभृति विद्वानों द्वारा वृत्तियों की रचना हुई। यापनीय संघ के श्री अपराजित, जो श्री विजयाचार्य के नाम से भी ख्यात हैं; ने भी टीका की रचना की, जिसका उन्होंने 'विजयोदया' नामकरण किया। अपने द्वारा विरचित "भगवती आराधना" टीका में उन्होंने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है। श्री ज्ञानसम्राट् तथा श्री-राजहंस महोपाध्याय ने इस पर गुजराती टीकाओं की रचना की। श्री ज्ञानसम्राट् द्वारा रचित टीका 'बालावबोध' के नाम से विश्रुत है।

प्रथम प्रकाशन

पाश्चात्य विद्वानों का प्राच्यविद्याओं के अन्तर्गत जैन वाङ्मय के परिशीलन की ओर भी झुकाव रहा है। उन्होंने उस ओर विशेष

अध्यवसाय भी किया है, जो इस एक उदाहरण से स्पष्ट है कि जर्मन विद्वान् डा० अर्नेस्ट ल्युमेन (Dr Ernest Leumann) ने सन् १८९२ में जर्मन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (Journal of the German Oriental Society) में सबसे पहले दशवैकालिक का प्रकाशन किया। उससे पहले यह ग्रन्थ केवल हस्तलिखित प्रतियों के रूप में था, मुद्रित नहीं हो पाया था। उसके पश्चात् भारत में इसका प्रकाशन हुआ। उत्तरोत्तर अनेक संस्करण निकलते गये। सन् १९३२ में सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान्, जैन आगम-वाङ्मय व प्राकृत के प्रमुख अध्येता डा० शुब्रिग के सम्पादकत्व में प्रस्तावना आदि के साथ इसका जर्मनी में प्रकाशन हुआ।

४. पिंडनिज्जुत्ति (पिण्ड-निर्युक्ति)

नाम : व्याख्या

पिण्ड शब्द जैन पारिभाषिक दृष्टि से भोजनवाची है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आहार एषणीयता, अनेषणीयता आदि के विश्लेषण के सन्दर्भ में उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष, एषणा-दोष और ग्रास-एषणा-दोष आदि श्रमण-जीवन के आहार, भिक्षा आदि महत्वपूर्ण पहलुओं पर विशद विवेचन किया गया है। मुख्यतः दोषों से सम्बद्ध होने के कारण इस ग्रन्थ की अनेक गाथाएं सुप्रसिद्ध दिगम्बर लेखक वट्टकेर के मूलाचार की गाथाओं से मिलती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में छः सौ इकहत्तर गाथाएं हैं। यह वास्तव में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिक के पंचम अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' है। इस अध्ययन पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति बहुत विस्तृत हो गयी है। यही कारण है कि इसे 'पिण्ड-निर्युक्ति' के नाम से एक स्वतन्त्र आगम के रूप में स्वीकार कर लिया गया। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाओं का इस प्रकार विमिश्रण हो गया है कि उन्हें पृथक्-पृथक् छाँट पाना कठिन है।

पिण्ड-निर्युक्ति आठ अधिकारों में विभक्त है, जिनके नाम उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम तथा कारण

हैं। भिक्षा से सम्बद्ध अनेक पहलुओं का विस्तृत तथा साथ-ही-साथ रोचक वर्णन है। वहां उद्गम और उत्पादन-दोष के सोलह-सोलह तथा एषणा-दोष के दश भेदों का वर्णन है। भिक्षागत दोषों के सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि अमुक मुनि उस प्रकार के दोष का सेवन करने के कारण प्रायश्चित्त के भागी हुए।

गृहस्थ के यहां से भिक्षा किस-किस स्थिति में ली जाए, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण चर्चाएँ हैं। बताया गया है कि यदि गृह-स्वामिनी भोजन कर रही हो, दही बिलो रही हो, आटा पीस रही हो, चावल कूट रही हो, रुई धुन रही हो, तो साधु को उससे भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार अत्यन्त नासमझ बालक से, अशक्त वृद्ध से, उन्मत्त से, जिसका शरीर कांप रहा हो, जो ज्वराक्रान्त हो, नेत्रहीन हो, कष्ट-पीड़ित हो, ऐसे व्यक्तियों से भी भिक्षा लेना अविहित है। भविष्य-कथन, चिकित्सा-कौशल, मन्त्र, तन्त्र, वशीकरण आदि से प्रभावित कर भिक्षा लेना भी वर्जित कहा गया है।

कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख

प्रसंगोपात्त सर्प-दंश आदि को उपशान्त करने के लिए दीमक के घर की मिट्टी, वमन शान्त करने के लिए मक्खी की बीठ, टूटी हुई हड्डी जोड़ने के लिए किसी की हड्डी, कुष्ट रोग को मिटाने के लिए गोमूत्र का प्रयोग आदि साधुओं के लिए निर्दिष्ट किये गये हैं।

साधु जिह्वा-स्वाद से अस्पृष्ट रहता हुआ किस प्रकार अनासक्त तथा अमूर्छित भाव से भिक्षा ग्रहण करे, गृहस्थ पर किसी भी प्रकार का भार उत्पन्न न हो, वह उनके लिए असुविधा, कष्ट या प्रतिकूलता का निमित्त न बने, उसके कारण गृहस्थ के घर में किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो जाए; इत्यादि का जैसा मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है, वह जैन श्रमण-चर्या के अनुशीलन एवं अनुसंधान के सन्दर्भ में विशेषतः पठनीय है।

पिण्ड-निर्युक्ति पर आचार्य मलयगिरि ने बृहद्-वृत्ति की रचना की। श्री वीराचार्य ने इस पर लघु-वृत्ति लिखी है।

ओहनिज्जुत्ति (ओघ-निर्युक्ति)

नाम : व्याख्या

ओघ का अर्थ प्रवाह, सातत्य, परम्परा या परम्परा-प्राप्त उपदेश है। इस ग्रन्थ में साधु-जीवन से सम्बद्ध सामान्य समाचारी का विश्लेषण है। सम्भवतः इसीलिए इसका यह नामकरण हुआ। जिस प्रकार पिण्ड-निर्युक्ति में साधुओं के आहार-विषयक पहलुओं का विवेचन है, उसी प्रकार इसमें साधु-जीवन से सम्बद्ध सभी आचार-व्यवहार के विषयों का संक्षेप में संस्पर्श किया गया है।

पिण्ड-निर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का जिस प्रकार अंश माना जाता है, उसी प्रकार इसे आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश स्वीकार किया जाता है, जिसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। इसमें कुल ८११ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति तथा भाष्य की गाथाएँ विमिश्रित हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् कर पाना सहज नहीं है।

ओघ-निर्युक्ति प्रतिलेखन-द्वार, आलोचना-द्वार तथा विशुद्धि-द्वार में विभक्त है। प्रकरणों के नामों से स्पष्ट है कि साधु-जीवन के प्रायः सभी पक्षों—प्रसंगों के विश्लेषण का इसमें समावेश है।

एक महत्वपूर्ण प्रसंग

एक चिर चर्चित प्रसंग है, जिस पर इसमें भी विचार किया गया है। वह प्रसंग है : आत्म-रक्षा—जीवन-रक्षा का अधिक महत्व है या संयम-रक्षा का? दोनों में से किसी एक के नाश का प्रश्न उपस्थित हो जाए, तो प्राथमिकता किसे देनी चाहिए? इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। कुछ ने संयम-रक्षा हेतु मर मिटने को आवश्यक बतलाया है और कुछ ने जीवन-रक्षा कर फिर प्रायश्चित्त लेने का सुझाव दिया है।

ओघ-निर्युक्ति में बतलाया गया है कि श्रमण को संयम का प्रतिपालन सदा पवित्र भाव से करना ही चाहिए, पर यदि जीवन मिटने का प्रसंग बन जाए, तो वहाँ प्राथमिकता जीवन-रक्षा को देनी होगी। यदि जीवन बच गया, तो साधक एक बार संयम-च्युत होते

मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् चौथी गाथा से उन्नीसवीं गाथा तक एक सुन्दर रूपक द्वारा धर्म-संघ की प्रशस्ति एवं स्तवना की है। बीसवीं और इक्कीसवीं गाथा में आद्य तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ से अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर तक; चौवीस तीर्थङ्करों को सामष्टिक रूप में वन्दन किया गया है। बाईसवीं, तेईसवीं और चौवीसवीं गाथा में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों तथा धर्म-संघ का वर्णन है। पच्चीसवीं गाथा से सैंतालीसवीं गाथा तक आर्य सुधर्मा से लेकर श्री दूष्यगणी तक स्थविरावली का प्रशस्तिपूर्वक वर्णन है। अड़तालीसवीं से पचासवीं गाथा तक तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव, क्षांति, मार्दव, शील आदि उत्तमोत्तम गुणों से युक्त, प्रशस्त व्यक्तित्व के धनी युगप्रधान श्रमणों तथा श्रुत-वैशिष्ट्य विभूषित श्रमणों की स्तवना की है। इससे प्रकट है कि यह स्थविरावली युग-प्रधान परिपाटी पर आधृत है। तदनन्तर सूत्रात्मक वर्णन आरम्भ होता है। स्थान–स्थान पर गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है।

ज्ञान के विश्लेषण के अन्तर्गत मति, श्रुत, अवधि, मनः-पर्यव तथा केवल ज्ञान की व्याख्या की गई है। उनके भेद-प्रभेद, उद्भव, विकास आदि का तलस्पर्शी तात्विक विवेचन किया गया है। सम्यक् श्रुत के प्रसंग में द्वादशांग या गणि-पिटक के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग प्रभृति बारह भेद निरूपित किये गये हैं। प्रासंगिक रूप में वहां मिथ्या-श्रुत की भी चर्चा की गई है। गणिक, आगमिक, अंग-प्रविष्ट, अंग-बाह्य आदि के रूप में श्रुत का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। आगमिक वाङ्मय के विकास तथा विस्तार के परिशीलन की दृष्टि से नन्दी सूत्र का यह अंश विशेषतः पठनीय है।

दर्शन-पक्ष

दर्शन का आधार प्रमाण होता है और प्रमाण का आधार ज्ञान। नन्दी आगम ज्ञान-चर्चा का ही आधार भूत शास्त्र है। जैन ज्ञानवाद पर उसमें सर्वाङ्गीण मीमांसा है। उस ज्ञान मीमांसा की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि सामान्यतया सभी जैनेतर दर्शनों में

इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में लिया है, जबकि जैन दर्शन ने केवल अतीन्द्रिय ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों में लिया है। नन्दीकार ने इन्द्रिय-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों मे ले लिया है। 'आँख देखा भी अप्रत्यक्ष' आदि आरोपो से जैन दर्शन को बचाने की दृष्टि से प्रस्तुत समाधान अपनाया गया है। आगे चल कर तो जैन दर्शन प्रत्यक्ष के दो भेदो में सर्वमान्य हो ही गया—इन्द्रिय ज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

नन्दी सूत्र की समग्र ज्ञान-चर्चा को "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास १" में निम्नोक्त प्रकार से समाहित एवं रूपान्तरित किया गया है—

ज्ञानवाद

ज्ञान पाँच प्रकार है: १. आभिनिबोधिक ज्ञान, २. श्रुत ज्ञान, ३. अवधि ज्ञान, ४. मनः पर्याय ज्ञान और ५. केवल ज्ञान। संक्षेप में यह ज्ञान दो प्रकार का है: प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं: इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है: १. श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, ४. जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष ५. स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है: १ अवधि ज्ञान प्रत्यक्ष, २. मन पर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष, ३. केवल ज्ञान प्रत्यक्ष।

अवधि-ज्ञान

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक होता है। भव-प्रत्ययिक अवधिज्ञान अर्थात् जन्म से प्राप्त होने वाला ज्ञान। यह देवो तथा नारको के होता है। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्यों तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचो के होता है। अवधिज्ञान के आवरक कर्मों में से उदीर्ण के क्षय तथा अनुदीर्ण के उपशमन होने पर उत्पन्न होने से यह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।[1] गुण-प्रतिपन्न अनगार

---

१. भाग० २. पृ०

२. खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जइ।

श्रमण को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान होता है। संक्षेप में यह छः प्रकार का है : १. आनुगामिक, २. अनानुगामिक, ३. वर्धमानक, ४. हीयमानक, ५. प्रतिपातिक, ६. अप्रतिपातिक। अनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है : १. अन्तगत और २. मध्यगत। अन्तगन्त अनुगामिक अवधिज्ञान तीन प्रकार का है : १. पुरतः अन्तगत, २. मार्गतः अन्तगत और ३ पार्श्वतः अन्तगत। कोई व्यक्ति उल्का—दीपिका, चटुली–पर्यन्त ज्वलित तृणपूलिका, अलात—तृणाग्रवर्ती अग्नि, मणि, प्रदीप अथवा अन्य किसी प्रकार की ज्योति को अग्रवर्ती रखकर अपने पथ पर बढ़ता चला जाता है, वह पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। उल्का, दीपिका आदि को पृष्ठवर्ती रखकर साथ लिये जिस प्रकार कोई व्यक्ति चलता जाता है, उसी प्रकार पृष्ठवर्ती भाग को आलोकित करने वाला ज्ञान मार्गतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। दीपिका आदि प्रकाश साधनों को जिस प्रकार कोई व्यक्ति पार्श्व में स्थापित कर चलता है, उसी प्रकार पार्श्व स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ साथ-साथ चलने वाला ज्ञान पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है।

जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का आदि प्रकाशकारी पदार्थों को मस्तक पर रखकर चलता जाता है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान चारों ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए ज्ञाता के साथ-साथ चलता है, वह मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान है। अन्तगत और मध्यगत अवधि में क्या विशेषता है ? पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन आगे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं (जाणइ पासइ), मार्गतः अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन पीछे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं। पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान से दोनों पार्श्वों में रहे हुए संख्येय तथा असंख्येय योजन तक के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं, किन्तु मध्यगत अवधिज्ञान से सभी ओर के संख्येय तथा असंख्येय योजन के बीच में रहे हुए पदार्थ जाने व देखे जाते हैं। यही अन्तगत अवधि और मध्यगत अवधि में विशेषता है।

अनानुगामिक अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष एक बड़े अग्नि स्थल में अग्नि जलाकर उसी के

आसपास घूमता हुआ उसके पार्श्व के पदार्थों को देखता है, दूसरे स्थान में रहे हुए पदार्थों को अन्धकार के कारण नही देख सकता, उसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र के संख्येय तथा असख्येय योजन तक के सम्बद्ध या असम्बद्ध पदार्थों को जानता व देखता है। उससे बाहर के पदार्थों को नही जानता।

जो प्रशस्त अध्यवसाय मे स्थित है तथा जिसका चारित्र परिणामों की विशुद्धि से वर्धमान है, उसके ज्ञान की सीमा चारो ओर से बढती है। इसी को वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं। अप्रशस्त अध्यवसाय में स्थित साधु जब सक्लिष्ट परिणामों से सक्लिश्यमान चारित्र वाला होता है तब चारों ओर से उसके ज्ञान की हानि होती है। यही हीयमान-अवधि का स्वरूप है। जो जघन्यतया अगुल के असंख्यातवें भाग अथवा सख्यातवें भाग यावत् योजनलक्ष पृथकत्व एवं उत्कृष्टतया सम्पूर्ण लोक को जानकर फिर गिर जाता है, वह प्रतिपातिक अवधिज्ञान है। अलोक के एक भी आकाश प्रदेश को जानने व देखने के बाद आत्मा का अवधिज्ञान अप्रतिपातिक होता है।

विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान चार प्रकार का है : १. द्रव्यविषयक, २. क्षेत्रविषयक ३. काल विषयक और ४. भाव विषयक। द्रव्य दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक सभी रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है। क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असख्यातवें भाग को जानता व देखता है और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असख्य खण्डो को (अलोक में) जानता व देखता है। काल की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानता-देखता है और उत्कृष्ट असख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप अतीत तथा अनागत काल को जानता - देखता है। भावदृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अनन्त भावों (पर्यायों) को जानता व देखता है एव उत्कृष्टतया भी अनन्त भावों को जानता देखता है, समस्त भावो के अनन्तवें भाग को जानता व देखता है।

मनःपर्यय-ज्ञान

मनः पर्यय ज्ञान मनुष्यों को होता है या अमनुष्यों को ? मनुष्यों को होता है तो क्या सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को होता है या गर्भज मनुष्यों को ? यह ज्ञान सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को नहीं, अपितु गर्भज मनुष्यों को ही होता है, अकर्मभूमि अथवा अन्तरद्वीप के गर्भज मनुष्यों को नहीं। कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों में से भी संख्येय वर्ष की आयु वालों को ही होता है, असंख्येय वर्ष की आयु वालों को नहीं। संख्येय वर्ष की आयु वालों में से भी पर्याप्तक (इन्द्रिय, मन आदि द्वारा पूर्ण विकसित) को ही होता है, अपर्याप्तक को नहीं। पर्याप्तकों में से भी सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को अथवा मिश्रदृष्टि (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि) को नहीं। सम्यक्दृष्टि वालों में से भी संयत (साधु) सम्यक्दृष्टि को ही होता है, असंयत अथवा संयतासंयत सम्यक्दृष्टि को नहीं। संयतों-साधुओं में से भी अप्रमत्त संयत को ही होता है, प्रमत्त संयत को नहीं। अप्रमत्त साधुओं में से भी ऋद्धि-प्राप्त को ही होता है, ऋद्धिशून्य को नहीं।

मनः पर्यय ज्ञान के अधिकारी का नव्य न्याय की शैली में प्रतिपादन करने के वाद सूत्रकार मन:पर्यय ज्ञान का स्वरूप-वर्णन प्रारंभ करते हैं। मनः-पर्यय ज्ञान दो प्रकार का होता है : ऋजुमति और विपुलमति। दोनों प्रकार के मनः पर्यय ज्ञान का संक्षेप में चार दृष्टियों से विचार किया जाता है : १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्तप्रदेशी अनन्त स्कन्धों (अणुसंघात) को जानता व देखता है और उसी को विपुलमति कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तया स्पष्ट जानता - देखता है।[१] क्षेत्र की अपेक्षा से ऋजुमति कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग और अधिक से अधिक नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरों तक, ऊपर ज्योतिष्क-विमान के ऊपरी तलपर्यन्त तथा तिर्यक्-तिरछा मनुष्य क्षेत्र के ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीपों में रहे हुए संज्ञी (समनष्क) पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जानता व देखता है

१. ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ।

और विपुलमति उसी को ढाई - अंगुल अधिक, विपुलतर, विशुद्धतर तथा स्पष्टतर जानता - देखता है। काल की अपेक्षा से ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवें भाग के भूत व भविष्य को जानता - देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एवं विशुद्धिपूर्वक जानता - देखता है। भाव की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्त भावों (भावों के अनन्तवें भाग) को जानता - देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एवं विशुद्धिपूर्वक जानता व देखता है। संक्षेप में मन. पर्यव ज्ञान मनुष्यों के चिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला है, मनुष्य-क्षेत्र तक सीमित है तथा चारित्र-युक्त पुरुष के क्षयोपशम गुण से उत्पन्न होने वाला है :—

> मणपज्जवनाण पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडण।
> माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइअ चरित्तवओ॥
>
> —सूत्र १८, गा० ६५

केवल-ज्ञान

केवलज्ञान दो प्रकार का है : भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञान अर्थात् संसार में रहे हुए अर्हन्तों का केवलज्ञान। वह दो प्रकार का है : सयोगिभवस्थ केवलज्ञान और अयोगिभवस्थ केवलज्ञान। सयोगिभवस्थ केवलज्ञान पुन दो प्रकार का है : प्रथम समय सयोगिभवस्थ और अप्रथम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकार का है। सिद्ध केवलज्ञान के दो भेद हैं : अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान और परम्पर-सिद्ध केवलज्ञान। अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान पन्द्रह प्रकार का है :— १. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थङ्करसिद्ध, ४. अतीर्थङ्कर-सिद्ध, ५. स्वयंबुद्धसिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध, ९. पुरुषलिंगसिद्ध, १० नपुंसकलिंगसिद्ध, ११. स्वलिंगसिद्ध, १२. अन्यलिंगसिद्ध, १३. गृहलिंगसिद्ध, १४. एकसिद्ध, १५. अनेकसिद्ध। परम्पर-सिद्ध-केवलज्ञान अनेक प्रकार का है, जैसे अप्रथम समयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध, यावत् दशसमयसिद्ध, संख्येय-समयसिद्ध, असंख्येय-समयसिद्ध, अनन्त-समयसिद्ध आदि। सामान्यतः केवलज्ञान का चार दृष्टियों

में विचार किया गया है: १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। द्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्यों को जानता व देखता है। क्षेत्र की अपेक्षा से केवलज्ञानी लोकालोकरूप समस्त क्षेत्र को जानता व देखता है। काल की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण काल–तीनों कालों को जानता व देखता है। भाव की अपेक्षा से केवलज्ञानी द्रव्यों के समस्त पर्यायों को जानता व देखता है। संक्षेप में केवलज्ञान समस्त पदार्थों के परिणामों एवं भावों को जानने वाला है, अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है :

> अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
> सासयमप्पडिवाई, एकविहं केवलं नाणं॥
>
> —सू० २२, गा० ६६

आभिनिबोधिक-ज्ञान :

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तिम प्रकार केवलज्ञान का वर्णन करने के बाद सूत्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की चर्चा समाप्त कर परोक्ष ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ कर देते हैं। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है: आभिनिबोधिक और श्रुत। जहां आभिनिबोधिक ज्ञान है, वहां श्रुतज्ञान है और जहां श्रुतज्ञान है, वहां आभिबोधिक ज्ञान है। ये दोनों परस्पर अनुगत हैं। इन दोनों में विशेषता यह है कि अभिमुख आये हुए पदार्थों का जो नियत बोध कराता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। इसी को मतिज्ञान भी कहते हैं। श्रुत का अर्थ है सुनना। श्रुतज्ञान अर्थात् शब्दजन्य ज्ञान मतिपूर्वक होता है, किन्तु मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नहीं होता।

अविशेषित मति, मति-ज्ञान और मति-अज्ञान उभय रूप है। विशेषित मति अर्थात् सम्यग्दृष्टि की मति मति-ज्ञान है तथा मिथ्या-दृष्टि की मति मति-अज्ञान है। इसी प्रकार अविशेषित श्रुत श्रुत-ज्ञान और श्रुत-अज्ञान उभयरूप है जब कि विशेषित अर्थात् सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुत-ज्ञान है एवं मिथ्या-दृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है।

आभिनिबोधिक ज्ञान–मतिज्ञान दो प्रकार का है: श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित मति-बुद्धि चार प्रकार की होती

है : १. औत्पात्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा, ४. पारिणामिकी .—

उप्पत्तिया वेणइया, कम्मया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भई ॥

—सू० २६, गा० ६८

औत्पात्तिकी बुद्धि :

पहले बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने पदार्थों को तत्काल विशुद्ध रूप से ग्रहण करने वाली अबाधित फलयुक्त बुद्धि को औत्पात्तिकी बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि किसी प्रकार के पूर्व अभ्यास एवं अनुभव के बिना ही उत्पन्न होती है।

वैनयिकी बुद्धि :

कठिन कार्य-भार के निर्वाह में समर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्ग का वर्णन करने वाले सूत्र और अर्थ का सार ग्रहण करने वाली तथा इहलोक और परलोक दोनों में फल देने वाली बुद्धि विनयसमुत्थ अर्थात् विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी बुद्धि है

भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभओलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

—गा० ७३

कर्मजा बुद्धि :

एकाग्र चित्त से (उपयोगपूर्वक) कार्य के परिणाम को देखने वाली, अनेक कार्यों के अभ्यास एवं चिन्तन से विशाल तथा विद्वज्जनों से प्रशंसित बुद्धि का नाम कर्मजा बुद्धि है :

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला।
साहुक्कार फलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

—गा० ७६

पारिणामिकी बुद्धि :

अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करने वाली, आयु के परिपाक से पुष्ट तथा ऐहलौकिक उन्नति एवं मोक्षरूप निःश्रेयस् प्रदान करने वाली बुद्धि का नाम पारिणामिकी बुद्धि है :

अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिया वयविवागपरिणामा।
हियनिस्सेयसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम ॥
—गा० ७८

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भी चार भेद हैं : १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा। अवग्रह दो प्रकार का है : अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह चार प्रकार का है : १. श्रोत्रेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, २. घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, ३. जिह्वेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, ४. स्पर्शेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह छः प्रकार का है : १. श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह, २. चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, ३. घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ४. जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ५. स्पर्शेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ६. नोइन्द्रिय (मन)-अर्थावग्रह। अवग्रह के ये पांच नाम एकार्थक हैं:—अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा।

ईहा भी अर्थावग्रह की ही भांति छः प्रकार की होती है। ईहा के एकार्थक शब्द हैं :—आभोगनता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता और विमर्श।

अवाय भी श्रोत्रेन्द्रिय आदि से छः प्रकार का है। इसके एकार्थक नाम हैं :—आवर्त्तनता, प्रत्यावर्त्तनता, अपाय, बुद्धि और विज्ञान।

धारणा भी पूर्वोक्त रीति से छः प्रकार की है। इसके एकार्थक पद ये हैं :—धरण, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठ।

मतिज्ञान की अवग्रह आदि अवस्थाओं का कालमान बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अवग्रह एक समय तक रहता है, ईहा की अवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, अवाय भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, धारणा संख्येय अथवा असंख्येय काल तक रहती है।

अवग्रह के एक भेद व्यंजनावग्रह का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने दृष्टान्त भी दिया है : जैसे कोई पुरुष किसी सोये हुए व्यक्ति को ओ अमुक ! ओ अमुक ! ऐसा कहकर जगाता है। उसे कानों में प्रविष्ट एक समय के शब्द-पुद्गल सुनाई नहीं देते,

तो दो समय के शब्द-पुद्गल सुनाई नही देते, यावत् दस समय तक के शब्द-पुद्गल सुनाई नहीं देते। इसी प्रकार संख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गलों को भी वह ग्रहण नहीं करता। असंख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गल ही उसके ग्रहण करने में आते हैं। यही व्यंजनावग्रह है। इसे मल्लक—शराव—सिकोरा के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया गया है। अर्थावग्रह आदि का स्वरूप इस प्रकार है, जैसे कोई पुरुष जागृत अवस्था में अव्यक्त शब्द को सुनता है और उसे 'कुछ शब्द है' ऐसा समझ कर ग्रहण करता है, किन्तु यह नही जानता कि वह शब्द किसका है? तदनन्तर वह ईहा मे प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह शब्द अमुक का होना चाहिए। इसके बाद वह अवाय मे प्रवेश करता है और निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक का ही है। तदनन्तर वह धारणा मे प्रवेश करता है एवं उस शब्द के ज्ञान को संख्येय अथवा असंख्येय काल तक हृदय में धारण किये रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए। नोइन्द्रिय अर्थात् मन से अर्थावग्रह आदि इस प्रकार होते हैं: जैसे कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न देखता है और प्रारम्भ में 'कुछ स्वप्न है' ऐसा समझता है। यह मनोजन्य अर्थावग्रह है। तदनन्तर क्रमशः मनोजन्य ईहा, अवाय और धारणा की उत्पत्ति होती है।

संक्षेप में मतिज्ञान–आभिनिबोधिक-ज्ञान का चार दृष्टियों से विचार हो सकता है: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सब पदार्थों को जानता है, किन्तु, देखता नहीं। क्षेत्र की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य प्रकार से सम्पूर्ण क्षेत्र को जानता है, किन्तु, देखता नहीं। काल की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सम्पूर्ण काल को जानता है, किन्तु, देखता नहीं। भाव की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया समस्त भावों—पर्यायों को जानता है, किन्तु, देखता नहीं। मतिज्ञान का उपसंहार करते हुए कहा गया है: शब्द स्पृष्ट (छूने पर) ही सुना जाता है, रूप अस्पृष्ट ही देखा जाता है, रस, गन्ध और स्पर्श स्पृष्ट एवं बद्ध (आत्म प्रदेशों में गृहीत होने पर) ही जाना जाता है। ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा ये सब आभिनिबोधिक-मतिज्ञान

के पर्याय हैं :—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं, च बद्धपुट्ठं वियागरे॥
ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं॥

—गा० ८५, ८७

श्रुत-ज्ञान :

श्रुतज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान चौदह प्रकार का है :—१. अक्षरश्रुत, २. अनक्षरश्रुत, ३. संज्ञिश्रुत, ४. असंज्ञिश्रुत, ५. सम्यक्श्रुत, ६. मिथ्याश्रुत, ७. सादिश्रुत, ८. अनादिश्रुत, ९, सपर्यवसितश्रुत, १०. अपर्यवसितश्रुत, ११. गमिकश्रुत, १२. अगमिकश्रुत १३. अंग-प्रविष्ट, १४. अनंगप्रविष्ट। इनमें से अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं :—संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। अक्षर की संस्थानाकृति का नाम संज्ञाक्षर है। अक्षर के व्यंजनाभिलाप को व्यंजनाक्षर कहते हैं। अक्षरलब्धिवाले जीव को लब्ध्यक्षर (भावश्रुत) उत्पन्न होता है। वह श्रोत्रेन्द्रिय आदि भेद से छः प्रकार का है। अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे ऊर्ध्व श्वास लेना, नीचा श्वास लेना, थूकना, खांसना, छींकना, निसंघना, अनुस्वारयुक्त चेष्टा करना आदि :

ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं॥

—गा० ८८

संज्ञिश्रुत तीन प्रकार की संज्ञावाला है :—(दीर्घ) कालिकी, हेतूपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श आदि शक्तियां विद्यमान हैं, वह कालिकी संज्ञावाला है। जो प्राणी (वर्तमान की दृष्टि से) हिताहित का विचार कर किसी क्रिया में प्रवृत्त होता है, वह हेतूपदेशिकी संज्ञा वाला है। सम्यक्श्रुत के कारण हिताहित का बोध प्राप्त करने वाला दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा वाला है। असंज्ञिश्रुत संज्ञिश्रुत से विपरीत लक्षणवाला है।

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अर्हन्त तीर्थङ्कर प्रणीत द्वादशांगी गणिपिटक सम्यक्श्रुत है। द्वादशांगी चतुर्दश पूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुत है, अभिन्नदशपूर्वी अर्थात् सम्पूर्ण दश पूर्वों के ज्ञाता के लिए भी सम्यक्श्रुत है, किन्तु, दूसरों के लिए विकल्प से सम्यक्श्रुत अर्थात् उनके लिए यह सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छन्द बुद्धि की कल्पना से कल्पित ग्रन्थ मिथ्या श्रुतान्तर्गत हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं: भारत (महाभारत), रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्यक, शकटभद्रिका, घोडमुख (घोटकमुख), कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलिक, लोकायतिक, षष्टितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातंजलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनरुत, नाटक अथवा ७२ कलाएँ और सांगोपांग चार वेद। ये सब ग्रन्थ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुतरूप है तथा सम्यक् दृष्टि के लिए सम्यक्त्वरूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक् श्रुत रूप हैं। अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये सम्यक् श्रुतरूप हैं, क्योंकि उसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे ये हेतु हैं।

द्वादशांगी गणिपिटक व्युच्छित्तिनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित-सान्त है तथा अव्युच्छित्तिनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि एवं अपर्यवसित-अनन्त है।

जिस सूत्र के आदि, मध्य और अन्त मे कुछ विशेषता के साथ बार-बार एक ही पाठ का उच्चारण हो, उसे गमिक कहते हैं। दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। गमिक से विपरीत कालिकश्रुत (आचारांग आदि) अगमिक हैं।

श्रुतज्ञान व उसके साथ ही प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते है कि निम्नोक्त आठ गुणों से युक्त मुनि को ही श्रुतज्ञान का लाभ होता है: १. सुश्रूषा (श्रवणेच्छा), २. प्रतिपृच्छा, ३. श्रवण, ४. ग्रहण, ५. ईहा, ६. अपोह, ७. धारणा ८. आचरण:

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ य ईहए यावि।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं॥

—गा० ६५

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम सूत्र का अर्थ बताना चाहिए, तदनन्तर उसकी निर्युक्ति करनी चाहिए और अन्त में निरवशेष सम्पूर्ण बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए :—

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे॥

—गा० ६७

श्री जिनदास महत्तर ने नन्दी-सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीकाओं का निर्माण किया।

६. अनुयोगद्वार

नन्दी की तरह यह सूत्र भी अर्वाचीन है, जो इसकी भाषा तथा वर्णन-क्रम से गम्य है। इसके रचयिता आर्य रक्षित माने जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न अनुयोगों से सम्बद्ध विषयों का आकलन है। विशेषतः संख्या-क्रम-विस्तार का जो गणितानुयोग का विषय है, इसमें विशद विवेचन है। यह ग्रन्थ प्राय प्रश्नोत्तर की शैली में रचित है।

सप्त स्वर

प्रसंगोपात्त इसमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद संज्ञक सात स्वरों का विवेचन है। स्वरों के उत्पत्ति स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि षड्ज स्वर जिह्वा के अग्र-भाग से उच्चरित होता है। ऋषभ स्वर का उच्चारण-स्थान हृदय है। गान्धार स्वर कण्ठाग्र से निःसृत होता है। मध्यम स्वर का स्थान जिह्वा के मध्य भाग से होता है। पंचम स्वर नासिका

से बोला जाता है। धैवत स्वर दांतों के योग से उच्चरित होता है। निषाद स्वर नेत्र-भृकुटि के आक्षेप से बोला जाता है।

सातों स्वरों के जीव-निःसृत और अजीव-निःसृत भेद—विश्लेषण के अन्तर्गत बताया गया है कि मयूर षड्ज स्वर, कुक्कुट ऋषभ स्वर, हंस गांधार स्वर, गाय-भेड़ आदि पशु मध्यम स्वर, वसन्त ऋतु में कोयल पंचम स्वर, सारस तथा क्रौंच पक्षी धैवत स्वर और हाथी निषाद स्वर में बोलता है। मानव कृत स्वर-प्रयोग के फलाफल पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में ग्राम, मूर्च्छना आदि का भी उल्लेख है।

आठ विभक्तियों की भी चर्चा है। कहा गया है, निर्देश में प्रथमा, उपदेश में द्वितीया, करण में तृतीया, सम्प्रदाय में चतुर्थी, अपादान में पंचमी, सम्बन्ध में षष्ठी, आधार में सप्तमी तथा आमन्त्रण में अष्टमी विभक्ति है। प्रकृति, आगम, लोप, समास, तद्धित, धातु आदि अन्य व्याकरण-सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा की गई है। प्रसंगतः काव्य के नौ रसों का भी उल्लेख हुआ है।

पल्योपम, सागरोपम आदि के भेद-प्रभेद तथा विस्तार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि का विश्लेषण, भेद-प्रकार; आदि का विस्तार से वर्णन है। जैन पारिभाषिक परिमाण-क्रम तथा संख्या-क्रम की दृष्टि से इसका वस्तुतः महत्त्व है।

महत्वपूर्ण सूचनाएं

कुप्रावचनिक, मिथ्या शास्त्र, पाखण्डी श्रमण, कापालिक, तापस, परिव्राजक, पाण्डुरंग आदि धर्मोपजीवियों, तृण, काष्ठ तथा पत्ते ढोने वालों, वस्त्र, सूत, भाण्ड आदि का विक्रय कर आजीविकोपार्जन करने वालों, जुलाहों, बढ़इयों, चितेरों, दांत के कारीगरों, छत्र बनाने वालों आदि का यथाप्रसंग विवेचन हुआ है।

प्रमाण-वर्णन के प्रसंग में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम की विशद चर्चा की गयी है। प्रत्यक्ष के दो भेद बतलाये गये हैं: इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पांच भेद कहे गये

हैं:—श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुः-इन्द्रिय- प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय- प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय- प्रत्यक्ष तथा स्पर्शनेन्द्रिय- प्रत्यक्ष।

नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए उसे अवधिज्ञान-प्रत्यक्ष, मनः-पर्यय-ज्ञान- प्रत्यक्ष तथा केवल-ज्ञान- प्रत्यक्ष; इस प्रकार इसे तीन प्रकार का बतलाया गया है।

अनुमान—

अनुमान का वर्णन करते हुए उनके पूर्ववत्, शेषवत् तथा दृष्टि-साधर्म्य नामक तीन भेदों की चर्चा की गई है। पूर्ववत् अनुमान का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने एक उदाहरण दिया है: जैसे कोई माता का पुत्र बाल्यावस्था में अन्यत्र चला गया और युवा हो कर अपने नगर वापिस आया। उसे देख कर उसकी माता पूर्वदृष्ट अर्थात् पहले देखे हुए लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है।[1] इसी को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं।

शेषवत् अनुमान पांच प्रकार का है: कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतः अनुमान है। शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना इसी प्रकार का अनुमान है। कारणों से कार्य का ज्ञान कारणतः अनुमान कहलाता है। तन्तुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिण्ड से घट बनता है आदि उदाहरण इसी प्रकार के अनुमान के हैं। गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान करना गुणतः अनुमान है। कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से पुष्प की परीक्षा आदि इसी प्रकार के अनुमान के उदाहरण हैं। अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना अवयव अनुमान है। शृंगों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दांतों से हाथी का, दाढ़ों से वाराह-सूअर का ज्ञान इसी कोटि का अनुमानजन्य ज्ञान है। साधन से साध्य का अर्थात् आश्रय से आश्रयी का ज्ञान आश्रयतः अनुमान है। धूम्र से अग्नि का, बादलों से जल का, अभ्र-विकार से वृष्टि का, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान इसी प्रकार का अनुमान है।

---

१. माया पुत्तं जहा नट्ठं, जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिगेण केणई॥
—गा० १५

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद हैं सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। किसी एक पुरुष को देखकर तद्देशीय अथवा तज्जातीय अन्य पुरुषों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का उदाहरण है। इसी प्रकार अनेक पुरुषों की आकृति आदि से एक पुरुष की आकृति आदि का अनुमान किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर एक बार देखकर पुन उसके अन्यत्र दिखाई देने पर उसे अच्छी तरह पहचान लेना विशेष दृष्ट अनुमान का उदाहरण है।

उपमान :

उपमान के दो भेद हैं: साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत। साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है: किंचित् साधर्म्योपनीत, प्रायः-साधर्म्योपनीत और सर्व साधर्म्योपनीत।

किंचित् साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं, जिसमे कुछ साधर्म्य हो। उदाहरण के लिए जैसा मेरु पर्वत है, वैसा ही सर्षप का बीज है, क्योंकि दोनों ही मूर्त है। इसी प्रकार जैसा आदित्य है, वैसा ही खद्योत है; क्योंकि दोनो ही प्रकाशयुक्त हैं। जैसा चन्द्र है, वैसा ही कुमुद है; क्योंकि दोनों ही शीतलता प्रदान करते हैं।

प्रायः साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं, जिसमें करीब-करीब समानता हो। उदाहरणार्थ जैसी गाय है, वैसी ही नीलगाय है।

सर्व साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं, जिसमें सब प्रकार की समानता हो। इस प्रकार की उपमा देश-काल आदि की भिन्नता के कारण नहीं मिल सकती; अत उसकी उसी से उपमा देना सर्व-साधर्म्योपनीत उपमान है। इसमें उपमेय एवं उपमान अभिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए अर्हन् ही अर्हन् के तुल्य कार्य करता है। चक्रवर्ती ही चक्रवर्ती के समान कार्य करता है आदि।

वैधर्म्योपनीत भी इसी तरह तीन प्रकार का है: किंचित्-वैधर्म्योपनीत, प्राय: वैधर्म्योपनीत और सर्व वैधर्म्योपनीत।

आगम :

आगम दो प्रकार के हैं : लौकिक और लोकोत्तरिक। मिथ्या-दृष्टियों के बनाये हुए ग्रन्थ लौकिक आगम हैं; जैसे, रामायण, महाभारत आदि। लोकोत्तरिक आगम वे हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन को धारण करने वाले, भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल के पदार्थों के ज्ञाता, तीनों लोकों के प्राणियों से पूजित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् प्रभु ने बताया है, जैसे, द्वादशांग गणिपिटक। अथवा आगम तीन प्रकार के हैं : सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम; अथवा आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। तीर्थङ्कर प्ररूपित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधर प्रणीत सूत्र गणधर के लिए आत्मागम एवं अर्थ अनन्तरागम है। गणधरों के शिष्यों के लिए सूत्रों को अनन्तरागम एवं अर्थ को परम्परागम कहते हैं। इसके बाद सूत्र और अर्थ दोनों ही परम्परागम हो जाते हैं।

प्रमाण की तरह नयवाद की भी विस्तार से चर्चा हुई है। इन वर्णन-क्रमों से इसके अर्वाचीन होने का कथन परिपुष्ट होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर श्री जिनदास महत्तर की चूर्णि है। आचार्य हरिभद्र तथा मलधारी हेमचन्द्र द्वारा टीकाओं की भी रचना की गई।

दस पइण्णग (दश प्रकीर्णक)

प्रकीर्णक का आशय इधर-उधर बिखरी हुई, छितरी हुई सामग्री या विविध विषयों के समाकलन अथवा संग्रह से है। जैन पारिभाषिक दृष्टि से प्रकीर्णक उन ग्रन्थों को कहा जाता है, जो तीर्थङ्करों के शिष्य उद्बुद्धचेता श्रमणों द्वारा अध्यात्म-सम्बद्ध विविध विषयों पर रचे जाते रहे हैं।

प्रकीर्णकों की परम्परा :

नन्दी सूत्र में किये गये उल्लेख के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ के शिष्यों द्वारा चौरासी सहस्र प्रकीर्णकों की रचना की गई। दूसरे से तेईसवें तक के तीर्थङ्करों के शिष्यों द्वारा संख्येय सहस्र प्रकीर्णक रचे गये। चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के शिष्यों द्वारा चौदह सहस्र प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना की गयी।

नन्दी सूत्र में इस प्रसंग में ऐसा भी उल्लेख है कि जिन-जिन तीर्थङ्करों के औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी; चार प्रकार की बुद्धि से उत्पन्न जितने भी शिष्य होते हैं, उनके उतने ही सहस्र प्रकीर्णक होते हैं। जितने प्रत्येक-बुद्ध होते हैं, उनके भी उतने ही प्रकीर्णक ग्रन्थ होते हैं।[1]

नन्दी सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध मे इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि अर्हत्-प्ररूपित श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य भी ग्रन्थ-रचना करते हैं, उसे प्रकीर्णक कहा जाता है। अथवा अर्हत्-उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य धर्म-देशना आदि के सन्दर्भ मे अपने वचन-कौशल से ग्रन्थ पद्धत्यात्मक रूप मे जो भाषण करते हैं, वह प्रकीर्णक-संज्ञक है।[2]

प्रकीर्णक ग्रन्थो की रचना तीर्थङ्करो के शिष्यो द्वारा होने की जब मान्यता है, तो यह स्थिति प्रत्येक-बुद्धो के साथ कैसे घटित होगी, क्योंकि वे किसी के द्वारा दीक्षित नही होते। वे किसी के शिष्य भी नहीं होते। इसका समाधान इस प्रकार है कि, प्रव्राजक या प्रव्रज्या देने वाले आचार्य की दृष्टि मे प्रत्येक-बुद्ध किसी के शिष्य नही होते, पर, तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट धर्म-शासन की प्रतिपन्नता या तदनुशासन-सम्पृक्तता की अपेक्षा से अथवा उनके शासन के अन्तर्वर्ती होने से वे

---

1. एवमाइयाइं चउरासीइं पइण्णग-सहस्साइं भगवओ अरहओ उसह-सामियस्स आइतित्थयरस्स। तहा संखिज्जाइं पइण्णगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं। चोद्दसपइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स। अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उववेया, तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव।

—नन्दी सूत्र; ४१

2. इह यद्भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य भगवतः श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्णकमुच्यते। अथवा श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनादिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकम्।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग, पृ० १

औपचारिकतया तीर्थङ्कर के शिष्य कहे भी जा सकते हैं; अतः प्रत्येक-बुद्धों द्वारा प्रकीर्णक-रचना की संगतता व्याहृत नहीं होती।[1]

प्राप्त प्रकीर्णक

वर्तमान में जो मुख्य-मुख्य प्रकीर्णक संज्ञक कृतियां प्राप्त हैं, वे सख्या में दश हैं : १. चउसरण (चतुःशरण), २. आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान), ३. महापच्चक्खाण (महा-प्रत्याख्यान), ४. भत्त-परिण्णा (भक्त-परिज्ञा), ५. तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), ६. सथारग (संस्तारक), ७. गच्छायार (गच्छाचार), ८. गणि-विज्जा (गणि-विद्या), ९. देविंद-थय (देवेन्द्र-स्तव), १०. मरण-समाही (मरण-समाधि)।

१. चउसरण (चतुःशरण)

जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, साधु और जिन प्ररूपित धर्म; ये चार शरण आश्रयभूत माने गये हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति के ये आधार-स्तम्भ हैं। इन्हीं चार के आधार पर इस प्रकीर्णक का नाम 'चतुःशरण' रखा गया है।

दुष्कृत त्याज्य हैं, सुकृत ग्राह्य; यह धर्म का सन्देश है। इस प्रकरण में दुष्कृतों को निन्दित बताया गया है और सुकृतों को प्रशान्त, जिसका आशय है कि मनुष्य को असत् कार्य न कर सत्कार्य करने में तत्पर रहना चाहिए। इसको 'कुशलानुबन्धी अध्ययन' भी कहा जाता है, जिसका अभिप्राय है कि यह कुशल-सुकृत या पुण्य की अनुबद्धता का साधक है। इसे तीनों सन्ध्याओं में ध्यान किये जाने योग्य बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि यह प्रकीर्णक विशेष उपादेय माना जाता रहा है। चतुःशरण की अन्तिम गाथा में श्री वीरभद्र का

---

1. प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते, तदेतदसमीचीनम्, यतः प्रव्राजकाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते, न तु तीर्थंकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग, पृ० ४

नामोल्लेख है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वे इसके रचयिता रहे हों। श्री भुवनतुंग द्वारा वृत्ति की रचना की गयी और श्री गुणरत्न द्वारा अवचूरि की।

२. आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान)

नाम : आशय : विषय

आतुर शब्द सामान्यतः रोग-ग्रस्त-वाची है। आतुरावस्था में मनुष्य की दो प्रकार की मानसिक अवस्थाएं सम्भावित हैं। जिन्हें देह, दैहिक भोग और लौकिक एषणाओं में आसक्ति होती है, वे सांसारिक मोहाच्छन्न मनः-स्थिति में रहते हैं। भुक्त भोगों की स्मृति और अप्राप्त भोगों की लालसा में उनका मन आकुल बना रहता है। अपने अन्तिम काल में भी वे इसीलिये प्रत्याख्यानोन्मुख नहीं हो पाते। संसार में अधिकांश लोग इसी प्रकार के हैं। अन्ततः मरना तो होता ही है, मर जाते हैं। वैसा मरण बाल-मरण कहा जाता है। यहां बाल का अभिप्राय अज्ञानी से है।

दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं, जो भोग तथा देह की नश्वरता का चिन्तन करते हुए आत्म-स्वभावोन्मुख बनते हैं। दैहिक कष्ट तथा रोग-जनित वेदना को वे आत्म-बल से सहते जाते हैं और अपने भौतिक जीवन की इस अन्तिम अवस्था में खाद्य, पेय आदि का परि-वर्जन कर, आमरण अनशन, जो महान् आत्म-बल का द्योतक है, अपना कर शुद्ध चैतन्य में लीन होते हुए देह-त्याग करते हैं। जैन परिभाषा में यह 'पण्डित-मरण' कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में बाल-मरण तथा पण्डित-मरण का विवेचन है, जिनकी स्थिति प्रायः आतुरावस्था में बनती है। सम्भवतः इसी पृष्ठ-भूमि के आधार पर इसका नाम आतुर-प्रत्याख्यान रखा गया हो। इसमें प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्याख्यान से ही सद्गति या शाश्वत शान्ति सधती है। चतुःशरण की तरह इसके भी रचयिता श्री वीरभद्र कहे जाते हैं और उसी की तरह श्री भुवनतुंग द्वारा वृत्ति तथा श्री गुणरत्न द्वारा अवचूरि की रचना की गयी।

३. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)

नाम : अभिप्राय

असत् अशुभ या अकरणीय का प्रत्याख्यान या त्याग जीवन की यथार्थ सफलता का परिपोषक है। यह तथ्य ही वह आधार-शिला है, जिस पर धर्माचरण टिका है। प्रस्तुत कृति में इसी पृष्ठ-भूमि पर दुष्कृत की निन्दा की गयी है। त्याग के महान् आदर्श की उपादेयता का इसमें विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इसी कारण इसकी संज्ञा महा प्रत्याख्यान की गयी।

विषय-वस्तु

पौद्गलिक भोगों का मोह या लोलुप भाव व्यक्ति को पवित्र तथा संयत जीवन नहीं अपनाने देता। पौद्गलिक भोगों से प्राणी कभी तृप्त नहीं हो सकता। उनसे संसार-भ्रमण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। एतन्मूलक विषयों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत कृति में माया का वर्जन, तितिक्षा एवं वैराग्य के हेतु, पंच महाव्रत, आराधना आदि विषयों का विवेचन किया गया है। अन्ततः यही सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि प्रत्याख्यान ही सिद्धि प्राप्त करने का हेतु है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में एक सौ बयालीस गाथाएं हैं।

४. भत्त-परिण्णा (भक्त-परिज्ञा)

नामः आशय

भक्त भोजन वाची है और परिज्ञा का सामान्य अर्थ ज्ञान, विवेक या पहिचान है। स्थानांग सूत्र में परिज्ञा का एक विशेष अर्थ 'ज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान' किया गया है।

जैन धर्म में भक्त-परिज्ञा अनशनपूर्वक मरण के भेदों में से एक है। आतुर-प्रत्याख्यान के सन्दर्भ में जैसा कि विवेचन किया गया है, रुग्णावस्था में साधक आमरण अनशन स्वीकार कर पण्डित-मरण प्राप्त करता है, भक्त-परिज्ञा की स्थिति उससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है। वहां दैहिक अस्वस्थता की स्थिति का विशेष सम्बन्ध नहीं है।

सत्-असत्-विवेकपूर्वक साधक आमरण अनशन द्वारा देह-त्याग करता
। धर्म-संग्रह नामक जैन आचार-विषयक ग्रन्थ के तृतीय अधिकरण
में इस सम्बन्ध में विशद वर्णन है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में अन्यान्य
विषयों के साथ-साथ भक्त-परिज्ञा का विशेष रूप से वर्णन है।
मुख्यतः उसी को आधार मान कर प्रस्तुत प्रकीर्णक का नामकरण
किया गया है।

प्रकीर्णक का कलेवर एक सौ बहत्तर गाथामय है। इसमें भक्त-
परिज्ञा के साथ-साथ इंगिनी और पादोपगमन का भी विवेचन है।
। उसी (भक्त-परिज्ञा) की तरह विवेकपूर्वक अशन-त्याग द्वारा
न किये जाने वाले मरण-भेद हैं। इस कोटि के पण्डित-मरण के ये
भेद माने गये हैं।

कतिपय महत्वपूर्ण प्रसंग

प्रकीर्णक में दर्शन (श्रद्धा-तत्त्व-आस्था) का बहुत महत्वपूर्ण
बताया गया है। कहा गया है कि जो दर्शन-भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें
निर्वाण-लाभ नहीं हो सकता। साधकों के ऐसे अनेक उदाहरण उप-
स्थित किये गये हैं, जिन्होंने असह्य कष्टों तथा परिषहों को आत्म-
बल के सहारे झेलते हुए अन्ततः सिद्धि लाभ किया।

मनोनिग्रह पर बहुत बल दिया गया है। कहा गया है कि
साधना में स्थिर होने के लिए मन का निग्रह या नियन्त्रण अत्यन्त
आवश्यक है। यहां मन को मर्कट की तरह चपल तथा क्षण भर भी
शान्त नहीं रह सकने वाला बताया है। उसका विषय-वासना से परे
होना दुष्कर है।

स्त्रियों की इस प्रकीर्णक में बड़े शब्दों में चर्चा की गयी है।
उन्हें नागिनी से उपमित किया गया है। उन्हें शोक-सरित्, अविश्वास-
भूमि, पाप-गुहा और कपट-कुटीर जैसे हीन नामों से अभिहित किया
गया है। इस प्रकीर्णक के रचनाकार श्री वीरभद्र माने जाते हैं। श्री
आराधना द्वारा आराधना-पताका की रचना की थी।

५, तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक)

नाम : अर्थ

तन्दुल और वैचारिक; इन दो शब्दों का इसमें समावेश है। तन्दुल का अर्थ चावल होता है और वैचारिक स्पष्ट है ही। प्रस्तुत प्रकीर्णक के इस नाम के सम्बन्ध में कल्पना है कि सौ वर्ष का वृद्ध पुरुष एक दिन में जितने तन्दुल खाता है, उनकी संख्या को उपलक्षित कर यह नामकरण हुआ है।[1]

कल्पना का आशय बहुत स्पष्ट तो नहीं है, पर, उसका भाव यह रहा हो कि सौ वर्ष के वृद्ध पुरुष द्वारा प्रतिदिन जितने चावल खाये जा सकते हैं, वे गणना योग्य होते हैं। क्योंकि वृद्धावस्था के कारण सहज ही उसकी भोजन-मात्रा बहुत कम हो जाती है। अर्थात् एक ससीम संख्या-क्रम इससे प्रतिध्वनित होता है।

प्रकीर्णक पांच सौ छयासी गाथाओं का कलेवर लिये हुए है। इसमें जीवों का गर्भ में आहार, स्वरूप, श्वासोच्छ्वास का परिमाण, शरीर में सन्धियों की स्थिति व स्वरूप, नाड़ियों का परिमाण, रोम-कूप, पित्त, रुधिर, शुक्र आदि का विवेचन है। वे तो मुख्य विषय हैं ही, साथ-साथ गर्भ का समय, माता-पिता के अंग, जीव की बाला, क्रीडा, मन्दा आदि दश दशाएं, धर्म के अध्यवसाय आदि और भी अनेक सम्बद्ध विषय वर्णित हैं।

नारी का हीन रेखा-चित्र

प्रस्तुत प्रकीर्णक में प्रसंगोपात्त नारी का बहुत घृणोत्पादक व भयानक वर्णन किया गया है। कहा गया है कि नारी सहस्रों अपराधों का घर है। वह कपट-पूर्ण प्रेम रूपी पर्वत से निकलने वाली नदी है। वह दुश्चरित्र का अधिष्ठान है। साधुओं के लिए वह शत्रुरूपा है। व्याघ्री की तरह वह क्रूरहृदया है। जिस प्रकार काले नाग का विश्वास नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह अविश्वस्य है।

---

1. तन्दुलानां वर्षशतायुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुल-वैचारिकम्। अभिधान राजेन्द्र; चतुर्थ भ

उच्छृंखल घोड़े को जिस प्रकार दमित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह दुर्दम है।

कुछ विचित्र व्युत्पत्तियाँ

नारी-निन्दा के प्रसंग में नारी-अर्थ-द्योतक शब्दों की कुछ विचित्र व्युत्पत्तियां दी गयी हैं। जैसे, नारी के पर्यायवाची 'प्रमदा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'पुरिसे मत्ते करंति त्ति पमयाओ।' अर्थात् पुरुषों को मत्त—कामोन्मत्त बना देती है, इसलिए वे प्रमदाएं कही जाती हैं।

महिला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है: 'णाणाविहेहिं कम्मेहिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहंति त्ति महिलाओ।' अनेक प्रकार के शिल्प आदि कर्मों द्वारा पुरुषों को मोहित करने के कारण वे महिलाएं कही जाती हैं।

प्राकृत में महिला के साथ 'महिलिया' प्रयोग भी नारी के अर्थ में है। स्वार्थिक 'क' जोड़कर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका विश्लेषण किया गया है: 'महत कलिं जणयति त्ति महिलियाओ' में महान् कलह उत्पन्न करती हैं, इसलिए उन्हें 'महिलियाओ' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

'रामा' की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है: 'पुरिसे हावभाव-माइएहिं रमंति त्ति रामाओ।' हाव-भाव आदि द्वारा पुरुषों को रम्य प्रतीत होने के कारण वे रामा कही जाती हैं।

अगना की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है: 'पुरिसे अंगाणुराए करिंति त्ति अंगणाओ।' अर्थात् पुरुषों के अंगों में अनुराग उत्पन्न करने के कारण वे अगनाएं कहलाती हैं।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति में कहा गया है: 'नारीसमा न नराणं अरीओ त्ति नारीओ।' नारियों के सदृश पुरुषों के लिए कोई अरि-शत्रु नहीं है, इस हेतु वे नारी शब्द से संज्ञित हैं।

इन व्युत्पत्तियों से ग्रन्थकार का यह सिद्ध करने का प्रयास स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि नारी केवल नामोरूपण है। नारी को एक कुत्सित और बीभत्स पदार्थ के रूप में चित्रित करने के पीछे

सम्भवतः यही आशय रहा हो कि मानव काम से—कामिनी से इतना भयाक्रान्त हो जाए कि उसका और उसका आकर्षण ही मिट जाए। अस्तु, यह एक प्रकार तो है, पर, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उपादेयता सन्दिग्ध एवं विवादास्पद है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक पर एक वृत्ति की रचना हुई, जिसके लेखक श्रीविजय-विमल हैं।

६. संथारग (संस्तारक)

जो भूमि पर संस्तीर्ण या आस्तीर्ण किया जाए—बिछाया जाए, वह संस्तार या संस्तारक कहा जाता है। जैन परम्परा में इसका एक पारिभाषिक अर्थ है। जो पर्यन्त-क्रिया करने को उद्यत होते हैं, आत्मोन्मुख होते हुए अनशन द्वारा देह-त्याग करना चाहते हैं, वे भूमि पर दर्भ आदि से संस्तार—संस्तारक अर्थात् बिछौना तैयार करते हैं, उस पर लेटते हैं।[1] उस संस्तारक पर देह-त्याग करते हुए जीवन का वह साध्य साधने में सफल होते हैं, जिसके लिए वे यावज्जीवन साधना-निरत तथा यत्नवान् रहे। उस बिछौने पर स्थित होते हुए वे संसार-सागर को तैर जाते हैं; अतः संस्तारक का अर्थ संसार-सागर को तैरा देने वाला, उसके पार लगाने वाला करें, तो भी असंगत नहीं लगता। प्रकीर्णक में अन्तिम समय में आत्मा-राधना-निरत साधक द्वारा संयोजित इस प्रक्रिया का विवेचन है।

एक सौ तेईस गाथाओं में यह प्रकीर्णक विभक्त है। इसमें संस्तारक की प्रशस्तता का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार मणियों में वैडूर्य मणि, सुरभिमय पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन तथा रत्नों में हीरा उत्तम है, उसी प्रकार साधना-क्रमों में संस्तारक परम श्रेष्ठ है। और भी बड़े उद्बोधक शब्दों में कहा गया है कि तृणों का संस्तारक बिछा कर उस पर स्थित हुआ

---

१. संस्तीर्यते भूपीठे शयनाय भूमिरिति संस्तारः स एव संस्तारकः। पर्यन्त-क्रियां कुर्वद्भिर्दर्भादिभिर्विरच्यते, तत्क्रियाप्रतिपादनरूपं प्रकीर्णक-मप्येवं।

—अभिधान राजेन्द्र; सप्तम भाग, पृ० १८५

श्रमण मोक्ष-सुख की अनुभूति करता है। इस प्रकीर्णक में ऐसे अनेक मुनियों के कथानक दिये गये हैं, जिन्होंने संस्तारक पर आसीन होकर पण्डित-मरण प्राप्त किया। श्री गुणरत्न ने इस पर अवचूरि की रचना की।

७. गच्छायार (गच्छाचार)

गच्छ एक परम्परा या एक व्यवस्था में रहने वाले या चलने वाले समुदाय का सूचक है, जो आचार्य द्वारा अनुशासित होता है। जब अनेक व्यक्ति एक साथ सामुदायिक या सामूहिक जीवन जीते है, तो कुछ ऐसे नियम, परम्पराएँ, व्यवस्थाएं मानकर चलना पडता है, जिससे सामूहिक जीवन समीचीनता, स्वस्थता तथा शान्ति से चलता जाए। श्रमण-संघ के लिए भी यही बात है। एक संघ या गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वियों को कुछ विशेष परम्पराओं तथा मर्यादाओं को लेकर चलना होता है, जिनका सम्बन्ध साध्वाचार, अनुशासन, पारस्परिक सहयोग, सेवा और सौमनस्यपूर्ण व्यवहार से है। साम-ष्टिक रूप में यही सब सम्प्रदाय, गण या गच्छ का आचार कहा जाता है। आधुनिक भाषा में उसे संघीय आचार-संहिता के नाम से अभिहित किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रकीर्णक मे इन्ही सब पहलुओं का वर्णन है।

प्रकीर्णक में कुल एक सौ सैंतीस गाथाएं हैं, जिनमे कतिपय अनुष्टुभ् छन्द में रचित है तथा कतिपय आर्या छन्द में। महानिशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार आदि छेद-सूत्रों का वर्णन पहले किया गया है, जिनमे साधु-साध्वियों के आचार, उनके द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में सेवित दोष, तदर्थ प्रायश्चित्त-विधान आदि से सम्बद्ध विषय वर्णित है। कहा जाता है, इन ग्रन्थों से यथापेक्ष सामग्री संचीर्ण कर एक गच्छ मे रहने वाले साधु-साध्वियो के हित की दृष्टि से इस प्रकीर्णक की रचना की गयी। इसमे गच्छ, गच्छ के साधु, साध्वी, आचार्य, उन सब के पारस्परिक व्यवहार, नियमन आदि का विशद विवे-चन है।

गच्छ के नायक या आचार्य के वर्णन प्रसंग में एक स्थान पर उल्लेख है कि जो आचार्य स्वयं आचार-भ्रष्ट हैं, भ्रष्टाचारियों का नियंत्रण नहीं करते अर्थात् आचार-भ्रष्टता की उपेक्षा करते हैं, स्वयं उन्मार्गगामी हैं, वे मार्ग और गच्छ का नाश करने वाले हैं। ज्यायान् एवं कनीयान् साधुओं के पारस्परिक वैयावृत्य, विनय, सेवा, आदर, सद्भाव आदि का भी इस ग्रन्थ में विवेचन किया गया है।

ब्रह्मचर्य-पालन में सदा जागरूक रहने की ओर श्रमणवृन्द को प्रेरित किया गया है। बताया गया है कि वय से वृद्ध होने पर भी श्रमण श्रमणियों के साथ वार्तालाप में संलग्न नहीं होते। श्रमणियों का संसर्ग श्रमणों के लिए विष-तुल्य है।

विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया है कि हो सकता है, दृढ़चेता स्थविर के चित्त में स्थिरता—दृढ़ता हो, पर, जिस प्रकार घृत अग्नि के समीप रहने पर द्रवित हो जाता है, उसी प्रकार स्थविर के संसर्ग से साध्वी का चित्त द्रवित हो जाये, उसमें दुर्बलता उभर आये। वैसी स्थिति में, जैसा कि आशंकित है, यदि स्थविर अपना धैर्य खो बैठे, तो वह ठीक वैसी दशा में आपतित हो जाता है, जैसे कफ में आलिप्त मक्षिका। अन्ततः यहां तक कहा गया है कि श्रमण को बाला, वृद्धा, बहिन, पुत्री और दोहित्री तक की निकटता नहीं होने देनी चाहिए।

व्याख्या-साहित्य

श्री आनन्दविमलसूरि के शिष्य श्री विजयविमल गणी ने गच्छाचार पर टीका की रचना की। टीकाकार ने एक प्रसंग में उल्लेख किया है कि वराहमिहिर आचार्य भद्रबाहु के भाई थे। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु के इतिवृत्त के सन्दर्भ में चर्चा की जा चुकी है, यह इतिहास सम्मत तथ्य नहीं है। इतिहास पर प्रामाणिकता, गवेषणा तथा समीक्षा की दृष्टि से ध्यान न दिये जा सकने के कारण इस तरह के अप्रामाणिक उल्लेखों का प्रचलन रहा हो, ऐसा सम्भावित लगता है। टीकाकार ने यह भी चर्चा की है कि वराहमिहिर ने चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों का अध्ययन करके वराही-संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की।

८. गणि-विज्जा (गणि-विद्या)

आपाततः प्रतीत होता है, इस प्रकीर्णक के नाम में आया हुआ 'गणि' शब्द गण के अधिपति या आचार्य के अर्थ में है, क्योंकि प्राकृत में सामान्यतः गणि शब्द का प्रचलित अर्थ ऐसा ही है। संस्कृत में भी 'गणिन्' शब्द इसी अर्थ में है। समास में न का लोप होकर केवल गणि रह जाता है। वास्तव में इस प्रकीर्णक के नाम में पूर्वार्द्ध में जो गणि शब्द है, वह गण-नायक के अर्थ में नहीं है। गणि शब्द की एक अन्य निष्पत्ति भी है। 'गण्' धातु के इन् प्रत्यय लगाकर गणना के अर्थ में 'गणि' शब्द बनाया जाता है। यहां उसी का अभिप्रेत है, क्योंकि प्रस्तुत प्रकीर्णक में गणना-सम्बन्धी विषय वर्णित है। यह बयासी गाथाओं में विभक्त है। इसमें तिथि, वार, करण, मुहूर्त, शकुन, लग्न, नक्षत्र, निमित्त आदि ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। घण्टे के अर्थ में यहां होरा शब्द का प्रयोग हुआ है।

९. देविंद-थय (देवेन्द्र-स्तव)

एक श्रावक चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन करता हुआ भगवान् महावीर की स्तवना करता है। श्रावक की गृहिणी उस समय अपने पति से इन्द्र आदि के विषय में जिज्ञासा करती है। वह श्रावक कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत देवताओं आदि का वर्णन करता है। यही सब इस प्रकीर्णक का वर्ण्य विषय है।

पिछले कई प्रकीर्णकों की तरह इस प्रकीर्णक के रचनाकार भी श्री वीरभद्र कहे जाते हैं। इसमें तीन सौ सात गाथाएं समाविष्ट हैं।

१०. मरण-समाही (मरण-समाधि)

मरण, जिसका कभी-न-कभी सबको सामना करना पड़ता है, जिससे सभी सदा भयाक्रान्त रहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से देह में एक सिहरन सी दौड़ जाती है, को परम सुखमय बनाने हेतु जैन दर्शन ने गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है तथा उनके लिए एक प्रशस्त मार्ग-दर्शन दिया है ताकि मृत्यु मानव के लिए भीति के स्थान पर महोत्सव बन जाए। समाधि-मरण उसी का उपक्रम है।

मानसिक स्थिरता, आत्मोन्मुखता, शुद्ध चिन्तनपूर्वक देहासक्ति-वर्जित मरण समाधि-मरण है। वहां खान-पान आदि सब कुछ सहज भाव से परित्यक्त हो जाते हैं। साधक आत्म-अनात्म के भेद-विज्ञान की कोटि में पहुंचने लगता है। ऐसी अन्तः-स्थिति उत्पन्न हो, जीवन में यथार्थगामिता व्याप्त हो जाए, एतदर्थ चिन्तनशील मनीषियों ने कुछ व्यवस्थित विधि-क्रम दिये हैं, जो न केवल शास्त्रानुशीलन, अपितु उनके जीवन-सत्य के साक्षात्कार से प्रसूत हैं। इस प्रकीर्णक में समाधि-मरण उसके भेद आदि का इसी परिप्रेक्ष्य में तात्विक एवं विशद विवेचन है।

कलेवर : विषय-वस्तु

प्रस्तुत प्रकीर्णक छः सौ तिरेसठ गाथाओं का शब्द-कलेवर लिये हुए है। परिमाण में दशों प्रकीर्णक ग्रन्थों में यह सब से बृहत् है। वर्ण्य-विषय से सम्बद्ध भक्त-परिज्ञा, आतुर-प्रत्याख्यान, महा-प्रत्याख्यान, मरण-विभक्ति, मरण-विशोधि, आराधना प्रभृति अनेक-विध श्रुत-समुदय के आधार पर इस प्रकीर्णक का सर्जन हुआ है।

गुरु और शिष्य के संवाद के साथ इस ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। शिष्य को समाधि-मरण के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। गुरु उसके समाधान में आराधना, आलोचना, संलेखना, उत्सर्ग, अवकाश, संस्तारक, निसर्ग, पादपोपगमन आदि चौदह द्वारों के माध्यम से समाधि-मरण का विस्तृत विश्लेषण करते हैं।

अनशन-तप की व्याख्या, संलेखना-विधि, पण्डित-मरण के स्वरूप आदि का इस प्रकीर्णक में समावेश है, जो आत्म-साधकों के लिए केवल पठनीय ही नहीं, आन्तरिक दृष्टि से भी विचारणीय है। प्रासंगिक रूप में इसमें उन महापुरुषों के दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने परीषहों को समभाव से सहते हुए पादपोपगमन आदि तप द्वारा सिद्धि प्राप्त की। धर्म-तत्त्वोपदेश के सन्दर्भ में और भी अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। बारह भावनाओं के विवेचन के साथ यह प्रकीर्णक समाप्त होता है।

इन प्रकीर्णकों पर यह संक्षिप्त ऊहापोह है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकीर्णक हैं, जिनमें ऋषि-भाषित, तीर्थोद्गार-

परिज्ञा, आजीवकल्प, सिद्धप्राभृत, आराधना-पताका, द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति, ज्योतिष-करण्डक, अंग-विद्या तथा योनि-प्राभृत; आदि उल्लेखनीय हैं।

उपसंहार

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय द्वारा मुख्यतया निम्नांकित पैंतालीस आगम स्वीकृत हैं, जिनका पिछले पृष्ठों में विश्लेषण किया गया है : अंग-११, उपांग-१२, छेद-६, मूल-४, नन्दी-अनुयोग द्वार-२, प्रकीर्णक-१०। कुल-४५। अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थों के मिलाने पर इनकी संख्या चौरासी तक हो गयी। किसी समय श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के गच्छों की संख्या भी चौरासी थी। हो सकता है, इस संख्या ने भी वैसा करने की प्रेरणा दी हो।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्थानकवासी सम्प्रदाय तथा तेरापंथ सम्प्रदाय द्वारा उपर्युक्त पैंतालीस आगमों में से बत्तीस आगम प्रामाणिक रूप में स्वीकार किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :

अंग—११

उपांग—१२

छेद-४—१-निशीथ, २-व्यवहार, ३-बृहत्कल्प, ४-दशाश्रुतस्कन्ध

मूल-४—१-दशवैकालिक, २-उत्तराध्ययन, ३-अनुयोग-द्वार, ४-नन्दी

आवश्यक-१। कुल ३२

दर्शन एवं आचार-शास्त्र के विविध पक्षों के प्रामाणिक तथा शोध-पूर्ण अध्ययन आदि अनेक दृष्टियों से इस पंचांगी साहित्य के व्यापक और गम्भीर परिशीलन की वास्तव में बहुत उपयोगिता है।

निज्जुत्ति (निर्युक्ति)

व्याख्याकार आचार्यों व विद्वानों के अनुसार सूत्रों में जो निर्युक्त है, निश्चित किया हुआ है, वह अर्थ जिसमें निबद्ध हो-समीचीनतया सन्निवेशित हो—यथावत् रूप में निर्दिष्ट हो, उसे निर्युक्ति कहा जाता है। निर्युक्तिकार इस निश्चय को लेकर चलते हैं कि वे सूत्रों का सही तथ्य यथावत् रूप में प्रस्तुत करें, जिससे पाठक सूत्रगत विषय सही रूप में हृद्गत कर सके। पर, जिस संक्षिप्त और संकेतमय शैली में निर्युक्तियां लिखी गयी हैं, उससे यह कम सम्भव लगता है कि उन्हें भी बिना व्याख्या के सहजतया समझा जा सके। यद्यपि विवेच्य विषयों को समझाने के हेतु अनेक उदाहरणों, दृष्टान्तों तथा कथानकों का उनमें प्रयोग हुआ है, पर, उनका संकेत जैसा कर दिया गया है, स्पष्ट और विशद वर्णन नहीं मिलता। ऐसी मान्यता है कि निर्युक्तियों की रचना का आधार गुरु-परम्परा प्राप्त पूर्व-मूलक वाङ्मय रहा है।

श्रमणवृन्द आगमिक विषयों को सहजतया मुखाग्र रख सकें, निर्युक्तियों की रचना के पीछे सम्भवतः यह भी एक हेतु रहा हो। ये आर्याछन्द में गाथाओं में हैं; इसलिए इन्हें कण्ठस्थ रखने में अपेक्षाकृत अधिक सुगमता रहती है। कथाएं, दृष्टान्त आदि का भी संक्षेप में उल्लेख या संकेत किया हुआ है। उससे वे मूल रूप में उपदेष्टा श्रमणों के ध्यान में आ जाते हैं, जिनसे वे उन्हें विस्तार से व्याख्यात कर सकते हैं।

ऐतिहासिकता

व्याख्या-साहित्य में निर्युक्तियां सर्वाधिक प्राचीन हैं। पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति की गणना आगमों के रूप में की गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पांचवी ई० शती में वलभी में हुई आगम-वाचना, जिसमें अन्ततः आगमों का संकलन एवं निर्धारण

इनमें भी संक्षिप्त विवेचन-पद्धति को अपनाया गया है। जिस प्रकार निर्युक्तियों की रचना में अर्द्ध-मागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है, इनमें भी प्रधानतः वैसा ही है। कहीं-कहीं अर्द्धमागधी के साथ-साथ मागधी और शौरसेनी प्राकृत के भी कुछ रूप दृष्टिगत होते हैं।

रचना : रचयिता

मुख्यतया जिन सूत्रों पर भाष्यों की रचना हुई, वे इस प्रकार हैं—१. निशीथ, २. व्यवहार, ३. बृहत्कल्प, ४ पंच कल्प, ५. जीतकल्प, ६. उत्तराध्ययन, ७. आवश्यक, ८. दशवैकालिक, ६. पिण्ड-निर्युक्ति तथा १०. ओघ-निर्युक्ति। निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प के भाष्य अनेक दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व लिये हुए हैं। इनके रचयिता श्री संघदास गणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं। कहा जाता है, ये याकिनी-महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्रसूरि के समसामयिक थे।

आवश्यक सूत्र पर लघुभाष्य, महाभाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य की रचनाएं की गयीं। अनेक विषयों का विशद समावेश होने के कारण विशेषावश्यक भाष्य का जैन साहित्य में अत्यन्त महत्व है। इसके रचयिता श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण हैं। जीतकल्प तथा उसके स्वोपज्ञ-भाष्य के कर्ता भी श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ही हैं।

भाष्य-साहित्य में प्राचीन श्रमण-जीवन और संघ से सम्बद्ध अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। निर्ग्रन्थों के प्राचीन आचार, व्यवहार, विधि-क्रम, रीति-नीति, प्रायश्चित्तपूर्वक शुद्धि; इत्यादि विषयों के समीक्षात्मक अध्ययन एवं अनुसन्धान के सन्दर्भ में निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प-भाष्य का अध्ययन नितान्त उपयोगी है। इनमें विविध-प्रसंगों पर इस प्रकार के उपयोगी संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थों की आचार-शृंखला को जोड़ने वाली अनेक कड़ियां प्रकाश में आती हैं।

चुण्णि (चूर्णि)

उद्भव : लक्षण

आगमों पर निर्युक्ति तथा भाष्य के रूप में प्राकृत-गाथाओं में व्याख्यात्मक ग्रन्थों की रचना हुई। उनसे आगमों का आशय विस्तार

तथा विशदता के साथ अधिगत किया जा सके, वैसा शक्य नहीं था; क्योंकि दोनों रचनाएं पद्यात्मक थीं। वस्तुतः व्याख्या जितनी स्पष्ट, बोधगम्य तथा हृद्य गद्य में हो सकती है, पद्य में वैसी हो सके, यह सम्भव नहीं हो पाता। फिर दोनों (निर्युक्ति तथा भाष्य) में संक्षिप्तता का आश्रयण था, अतः प्रवचनकार, प्रवक्ता या व्याख्याता के लिए, जैसा कि उल्लेख किया गया है, वह (शैली) लाभकर थी, पर, स्पष्ट और विशद रूप में आगमों का हार्द अधिगत करने के इच्छुक अध्येताओं के लिए उनका बहुत अधिक उपयोग नहीं था। अतएव गद्य के रूप में आगमों की व्याख्या रचे जाने का एक क्रम पहले से ही रहा है, जो चूर्णियों के रूप में प्राप्त है।

अभिधान-राजेन्द्रकार ने चूर्णि का लक्षण एवं विश्लेषण करते हुए लिखा है: 'प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति तथा विभाषा' के रूप में जो अर्थ-बहुल हो, हेय-उपादेय अर्थ का प्रतिपादन करने की महत्ता या विशेषता से जो संयुक्त हो, जिसकी रचना हेतु, निपात तथा उपसर्ग के समन्वय से गम्भीरता लिए हुए हो, जो अव्यवच्छिन्न—श्लोकवत् विराम-रहित हो, जो गम—नैगम-नयानुप्राणित हो, उसे चौर्णपद—चूर्णि कहा जाता है।'[2]

चूर्णियों की भाषा

चूर्णिकार ने भाषा के सम्बन्ध में नया प्रयोग किया है। प्राकृत जैन दृष्टि से आर्ष वाक् है, अतः उसे तो उन्होंने लिया ही है, पर, संस्कृत को भी उन्होंने ग्रहण किया है। दर्शन और न्यायशास्त्र आदि गम्भीर एवं सूक्ष्म विषयों को विद्वद्भोग्य तथा व्युत्पन्न शैली में व्याख्यात करने में संस्कृत की अपनी अप्रतिम विशेषता है। उसका शब्दकोश वैज्ञानिक दृष्टि से विशाल है तथा उसका व्याकरण शब्दों के नव सर्जन की उर्वरता लिये हुए है। उसकी अपनी कुछ विशिष्ट

---

१ [illegible]

२ अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं ।
बहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं ॥

शब्दावली है, जिसके द्वारा संक्षेप में विस्तृत और गहन अर्थ व्याख्यात किया जा सकता है। उसकी विवेचन-सरणि में प्रभावापन्नता और गम्भीरता है। सूक्ष्म और पारिभाषिक (Technical) विश्लेषण की दृष्टि से उसकी अपनी असामान्य क्षमता है। चूर्णिकार द्वारा भाषात्मक माध्यम के रूप में प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत संयोजन के पीछे सम्भवतः इसी प्रकार का दृष्टिकोण रहा हो, अर्थात् संस्कृत को इन विशेषताओं से लाभान्वित क्यों न हुआ जाए ?

चूर्णियों में किया गया प्राकृत-संस्कृत का मिश्रित प्रयोग 'मणि-प्रवाल-न्याय' से उपमित किया गया है। मणियों और मूंगों को एक साथ मिला दिया जाये, तो भी वे पृथक्-पृथक् स्पष्ट दीखते रहते हैं। यही स्थिति यहाँ दोनों भाषाओं की है।

प्राकृत की प्रधानता

चूर्णियों में संस्कृत और प्राकृत का सम्मिलित प्रयोग तो हुआ, फिर भी उनमें प्रधानता प्राकृत की रही। चूर्णियों में यथा-प्रसंग अनेक प्राकृत-कथाएं दी गयी हैं, जो धार्मिक, सामाजिक, किंवा लौकिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध हैं। चूर्णिकार को जो शब्द विशेष व्याख्येय या विश्लेष्य लगे हैं, उनकी व्युत्पत्ति भी प्रायः प्राकृत में ही प्रस्तुत की गयी है।

वर्ण्य विषय के समर्थन तथा परिपुष्टता के हेतु स्थान-स्थान पर प्राकृत व संस्कृत के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध पद्य उद्धृत किये गये हैं। प्राकृत भाषा की क्षमता, अभिव्यंजना-शक्ति, प्रवाहशीलता, लोक-जनीनता आदि के साथ भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णियों के अध्ययन की वास्तव में अत्यधिक उपयोगिता है।

चूर्णियां : रचनाकार

आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी तथा अनुयोग-द्वार पर चूर्णियों की रचना हुई है।

चूर्णियों के रूप में जैन साहित्य को ही नहीं, प्रत्युत भारतीय वाङ्मय को अनुपम देन देने वाले मनीषी श्री जिनदास गणी महत्तर थे। वे वाणिज्य कुलोत्पन्न थे। धर्म-सम्प्रदाय की दृष्टि से वे कोटिक गण के अन्तर्गत वज्र-शाखा से सम्बद्ध थे। इतिहासज्ञों के अनुसार उनका समय षष्ठ शती ईसवी के लगभग माना जाता है।

जैसलमेर के भण्डार में दशवैकालिक चूर्णि की अेक प्राचीन प्रति मिली है, जिसके रचयिता स्थविर अगस्त्यसिंह हैं। उनका समय विक्रम की तृतीय शती माना जाता है। उसमे प्रकट होता है कि श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में समायोजित वाचना से भी लगभग दो-तीन शती पूर्व ही वह रची जा चुकी थी। आगम-महोदधि स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी द्वारा उसका प्रकाशन किया गया है। श्री जिनदास गणी महत्तर द्वारा रचित दशवैकालिक चूर्णि के नाम मे जो कृति विश्रुत है, उसे आचार्य हरिभद्रसूरि ने वृद्ध-विवरण के नाम मे अभिहित किया है।

महत्त्वपूर्ण चूर्णियां

भारतीय लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से सभी चूर्णियों में यत्र तत्र बहुत सामग्री विकीर्ण है, पर, निशीथ की विशेष चूर्णि तथा आवश्यक चूर्णि का उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैन इतिहास, पुरातत्त्व, तत्कालीन समाज आदि पर प्रकाश डालने वाली विशाल सामग्री भरी है। लोगों का खान-पान, वेश-भूषा, आभूषण, सामाजिक, धार्मिक एवं लौकिक रीतियां, प्रथाएं, समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मापदण्ड, समय-समय पर पर्व दिनों के उपलक्ष्य में आयोजित होने वाले मेले, समारोह, जनता द्वारा मनाये जाने वाले त्योहार, व्यवसायिक स्थिति, व्यापार-मार्ग, श्रेष्ठ समुदाय के साथ व्यापारार्थ दूर-दूर समुद्र-पार तक जाने वाले बड़े-बड़े व्यवसायी (सार्थवाह), उत्सव, दुर्भिक्ष, डाकू, तस्कर आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों पर विविध प्रसंगों के बीच इन चूर्णियों में विवेचन हुआ है।

इससे पता चलता है कि जैन आचार्य सदा मुख्य जन-जन को धर्म-प्रतिबोध देने के निमित्त कितने समुद्यत रहे हैं। यही कारण

है कि उनका लोक-जीवन के साथ अत्यन्त निकटतापूर्ण सम्पर्क रहा है। उस काल के लोक-जीवन का एक सजीव चित्र उपस्थित कर पाना उनके लिए सहजतया सम्भव हो सका है। जन-सम्पर्क के साथ-साथ वे कितने व्यवहार-निपुण थे, प्रस्तुत सामग्री से यह भी प्रकट होता है। जैन-सन्तों को अपने दर्शन तथा धर्म का गहन अध्ययन तो था ही, अध्ययन की अन्यान्य विधाओं में भी उनकी गहरी पहुंच थी। वास्तव में उनका अध्ययन बड़ा व्यापक तथा सार्वजनीन था। लोक-जीवन तथा लोक-साहित्य के गवेषणापूर्ण अध्ययन की दृष्टि से भी चूर्णियों का अप्रतिम महत्त्व है। आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त तत्सम्बद्ध साहित्य के इतर ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखे जाने का क्रम रहा। उदाहरणार्थ, कर्म-ग्रन्थ, श्रावक-प्रतिक्रमण जैसे ग्रन्थों पर भी चूर्णियां रची गयीं।

टीकाएं

अभिप्रेत

आगम ही जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन, आचार-विचार; संक्षेप में समग्र जैन जीवन के मूल आधार हैं; अतः उनके आशय को स्पष्ट, स्पष्टतर और सुबोध्य बनाने की ओर जैन आचार्यों तथा मनीषियों का प्रारम्भ से ही प्रयत्न रहा है। फलतः जहाँ एक ओर निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों का सर्जन हुआ, दूसरी ओर टीकाओं की रचना का क्रम भी गतिशील रहा। निर्युक्तियों व भाष्यों की रचना प्राकृत-गाथाओं में हुई तथा चूर्णियां प्राकृत-संस्कृत-गद्य में लिखी गयीं, वहां टीकाएं प्रायः संस्कृत में रचित हुईं। शब्द-सर्जन की उर्वरता, व्यौत्पत्तिक विश्लेषण की विशदता तथा अभिव्यंजना की असाधारण क्षमता आदि संस्कृत की कुछ असामान्य विशेषताएं हैं, जिन्होंने जैन तथा बौद्ध लेखकों को विशेष रूप से आकृष्ट किया। फलतः उत्तरवर्ती काल में जैन तथा बौद्ध सिद्धान्त जब विद्वद्गम्य, प्रांजल तथा प्रौढ़ स्तर एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर अभिव्यक्त व प्रतिष्ठित किये जाने लगे, तब उनका भाषात्मक परिवेश अधिकांशतः संस्कृत-निबद्ध रहा। जैन वाङ्मय में आचार्य सिद्धसेन के सन्मति-तर्क प्रकरण के अतिरिक्त [illegible] प्रायः प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में र[illegible]

जैन दार्शनिक-ज्ञान के पूर्व में ही विद्वान् आचार्यों ने आगमों की टीकाओं की भाषा के रूप में संस्कृत को स्वीकार किया। अर्हद्-वाणी की संवाहिका होने के कारण प्राकृत के प्रति जो श्रद्धा थी, उसका इतना प्रभाव तो टीका साहित्य में अवश्य पाया जाता है कि कहीं-कहीं कथाएं मूल प्राकृत में ही उद्धृत की गयी हैं। कुछ टीकाएं प्राकृत निबद्ध भी हैं, पर, बहुत कम।

टीकाएं : पुरावर्ती परम्परा

निर्युक्तियां, भाष्य, चूर्णियां एवं टीकाएं व्याख्या-साहित्य के क्रमिक विकास के रूप में नहीं हैं, बल्कि सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि इनका सर्जन स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप में अपना दृष्टि-कोण लिये चलता रहा है। वालभी वाचना के पूर्व टीकाओं के रचे जाने का क्रम चालू था। दशवैकालिक चूर्णि के लेखक स्थविर अगस्त्यसिंह, जिनका समय विक्रम के तृतीय शतक के आसपास था, अपनी रचना में कई स्थानों पर प्राचीन टीकाओं के सम्बन्ध में इंगित किया है।

हिमवत् थेरावली में उल्लेख

हिमवत् थेरावली में किये गये उल्लेख के अनुसार आर्य मधु-मित्र के अन्तेवासी तथा तत्त्वार्थ महाभाष्य के रचयिता आर्य गन्ध-हस्ती ने आर्य स्कन्दिल के अनुरोध पर द्वादशांग पर विवरण लिखा, जो आज अप्राप्य है। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार आचारांग का विवरण सम्भवतः विक्रम के दो शतक बाद लिखा गया। विवरण वस्तुतः संस्कृत टीका का ही एक रूप है। इस प्रकार टीकाओं की रचना का क्रम एक प्रकार से बहुत पहले ही चालू हो चुका था।

प्रमुख टीकाकार

आचार्य हरिभद्रसूरि

जैन जगत् के महान् विद्वान्, अध्यात्म-योगी आचार्य हरिभद्र-सूरि का आगम-टीकाकारों में महत्वपूर्ण स्थान है। उनका समय

आठवीं ई. शती माना जाता है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोग-द्वार तथा प्रज्ञापना पर टीकाओं का रचना की। टीकाओं में उनकी विद्वत्ता तथा गहन अध्ययन का स्पष्ट दर्शन होता है। टीकाओं में कथा-भाग को उन्होंने प्राकृत में ही यथावत् उपस्थित किया। इस परम्परा का कतिपय उत्तरवर्ती टीकाकारों ने भी अनुसरण किया, जिनमें वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि, आचार्य मलयगिरि आदि मुख्य हैं।

शीलांकाचार्य

श्री शीलांकाचार्य ने द्वादशांग वाङ्मय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम आचारांग तथा सूत्रकृतांग पर टीकाओं की रचना की। इनमें जैन-तत्व-ज्ञान तथा आचार-क्रम से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं। श्री शीलांकाचार्य का समय लगभग नवम ईसवी शती माना जाता है।

शांत्याचार्य एवं नेमिचन्द्राचार्य

ईसा की ग्यारहवीं शती में वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि तथा आचार्य नेमिचन्द्रसूरि प्रमुख टीकाकार हुए। श्री शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन पर 'पाइय' या 'शिष्यहिता' संज्ञक टीका की रचना की। वह उत्तराध्ययन-बृहद्-वृत्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है। श्री नेमिचन्द्रसूरि ने इसी टीका को मुख्य आधार बनाकर एक और टीका की रचना की, जिसे उन्होंने 'सुख-बोधा' संज्ञा दी।

आचार्य शान्तिसूरि ने जहाँ प्राकृत-कथाओं को उद्धृत किया है, वहां ऐसा वृद्ध-सम्प्रदाय है, इस प्रकार वृद्धवाद है, अन्य इस प्रकार कहते हैं, इत्यादि महत्वपूर्ण सूचनाएं की हैं, जो अनुसन्धित्सुओं के लिए बड़ी उपयोगी हैं। इनसे अनुमेय है कि प्राचीनकाल से इन कथाओं की परम्परा चली आ रही थी। कथा-साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से इन कथाओं का महत्त्व है। 'पाइय' तथा 'सुख-बोधा' संज्ञक टीकाओं में कुछ कथाएं तो इतनी विस्तृत हो गयी हैं कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र पुस्तक हो सकती है। ब्रह्मदत्त तथा अगडदत्त की कथाएं इसी प्रकार की हैं।

आचार्य अभयदेव प्रभृति उत्तरवर्ती टीकाकार

बारहवीं-तेरहवीं ई० शती में अनेक टीकाकार हुए, जिन्होंने टीकाओं के रूप में महत्त्वपूर्ण व्याख्या-साहित्य का सर्जन किया। आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्न-व्याकरण तथा विपाक श्रुत, इन नौ अंग-ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाओं की रचना की, जिनका जैन साहित्य में बड़ा समादृत स्थान है। नौ अंगों पर टीकाएं रचने के कारण ये "नवांगी टीकाकार" के नाम से विश्रुत हैं। इनका समय बारहवीं ई० शताब्दी है।

बारहवीं-तेरहवीं शती के टीकाकारों में श्री द्रोणाचार्य, मलधारी हेमचन्द्र, श्री मलयगिरि एवं श्री क्षेमकीर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सोलहवीं शती के अन्तिम भाग में हुए श्री पुण्यसागरोपाध्याय, श्री शान्तिचन्द्र भी विश्रुत टीकाकार थे।

विशेषता : महत्त्व

टीकाओं ने आगम गत निगूढ तत्त्वों की अभिव्यक्ति और विश्लेषण का तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही, एक बहुत बड़ी साहित्यिक निधि भी प्रस्तुत की, जिसका असाधारण महत्त्व है। विद्वान् टीकाकारों ने मानव-जीवन के विभिन्न अंगों और पहलुओं का जो विवेचन-विश्लेषण किया वह मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि अनेक पहलुओं का मार्मिक स्पर्श लिए हुए है।

यह विशाल वाङ्मय उत्तरवर्ती साहित्य के सर्जन में निःसन्देह बड़ा उपजीव्य एवं प्रेरक रहा। प्रस्तुत जैन-वाङ्मय का स्रोत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य लोक-भाषाओं का माध्यम लिए उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होता गया। इतना ही नहीं, जैनेतर साहित्य की भी अनेक विधाएं इससे प्रभावित तथा अनुप्राणित हुईं।